
वर्ष २२
अङ्क ३

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम। जय रघुनन्दन जय सियाराम॥
रघुपति राघव राजा राम। पतितपावन सीताराम॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा। जय गणेश जय शुभ-आगारा॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर आषाढ़, जून सन् १९४९ की

चित्र-सूची

तिरंगा

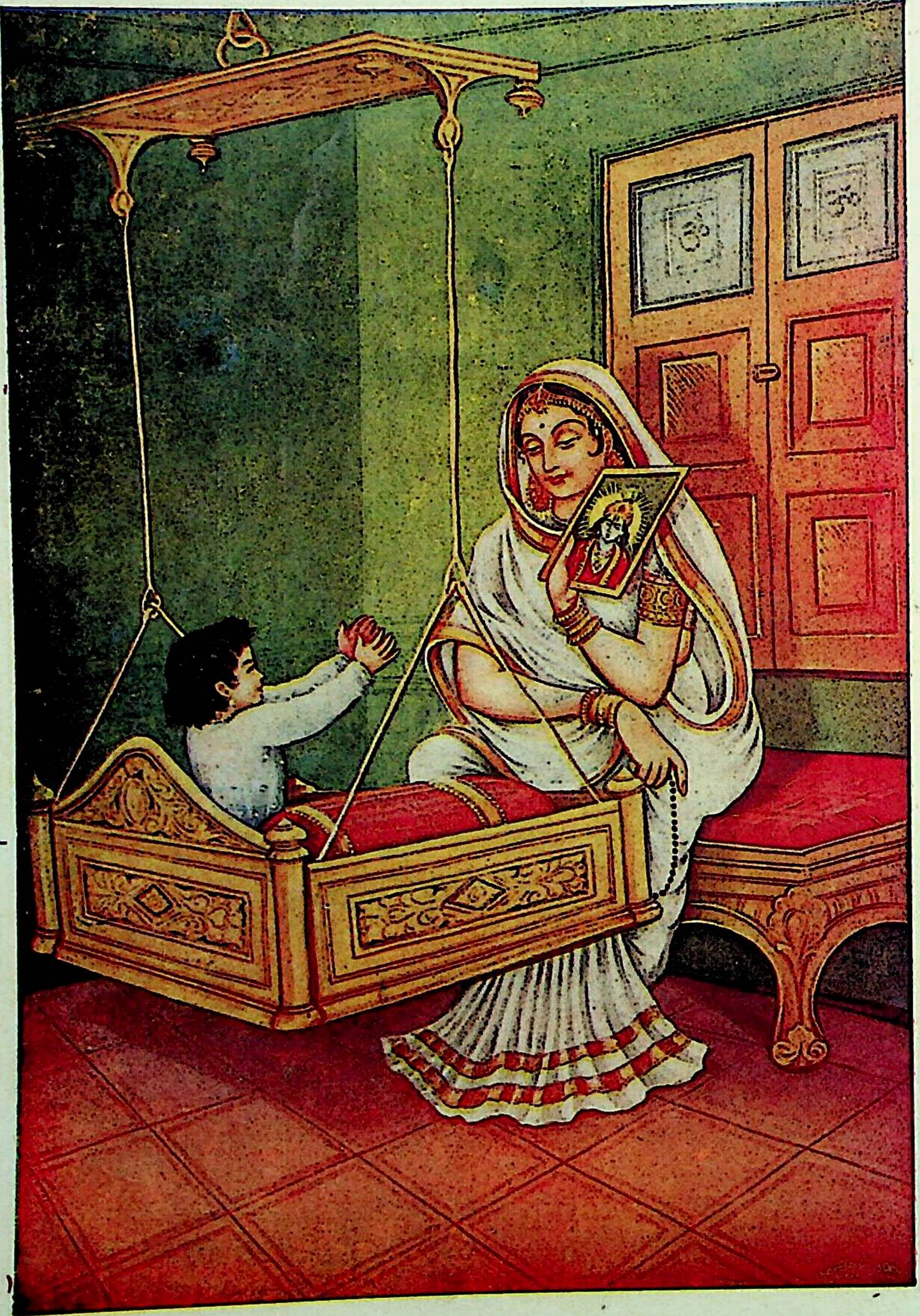
वार्षिक मूल्य भारतमें ६≶) विदेशमें ८॥≈) (१३ शिलिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत् चित् आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

साधारण प्रति भारतमें ।≈) विदेशमें ॥–) (१० पैंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

योगभ्रष्टका जन्म



योगभ्रष्ट पुण्य-लोकोंमें जाकर रह चिर सुख-सम्पन्न ।
शुचि सन्मार्गारूढ़ धनीके घरमें फिर होता उत्पन्न ॥ (गीता ६ । ४१)

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥



वेणुवादनशीलाय गोपालायाहिमर्दिने । कालिन्दीकूललीलाय लोलकुण्डलधारिणे ॥
वल्लवीनयनाम्भोजमालिने नृत्यशालिने । नमः प्रणतपालाय श्रीकृष्णाय नमो नमः ॥

वर्ष २३ | गोरखपुर, सौर आषाढ़ २००६, जून १९४९ | संख्या ६ पूर्ण संख्या २७१

योगभ्रष्टका जन्म

योगभ्रष्ट पुण्यलोकोंमें जाकर रह चिरसुखसम्पन्न।
शुचि सन्मार्गारूढ़ धनीके घरमें फिर होता उत्पन्न॥
भक्त जनक-जननीकी शैशवसे ही शुभ संगति पाता
शुद्ध वायुमण्डलमें पलकर साधनमय बनता जाता॥
ईश-कृपा औ साधन बलसे जाग्रत् होता पूर्वाभ्यास।
ब्रह्मरूप बन जाता, फिर मिट जाता सब मिथ्या अध्यास॥

याद रक्खो—सच्ची शरणागति भगवान्‌के प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण हो जानेपर ही सिद्ध होती है और सच्चा आत्मसमर्पण वह है, जिसमें अपने पास अपना कुछ रहे ही नहीं; शरीर, मन, बुद्धि, अहङ्कार, चेतना सभी कुछ श्रीभगवान्‌के हो जायँ।

याद रक्खो—जिसने भगवान्‌के प्रति आत्मसमर्पण कर दिया है, वह भगवान्‌के कार्यका आधार बन जाता है। उसके द्वारा फिर जो कुछ भी क्रिया होती है, सब भगवान्‌की ही होती है; उसका अपना अपने लिये पृथक् कुछ कार्य रहता ही नहीं।

याद रक्खो—जिसने भगवान्‌के प्रति आत्मसमर्पण कर दिया है, वह सदा सर्वदा प्रसन्नतापूर्वक यन्त्रकी भाँति भगवान्‌का कार्य करता रहता है। वह किसी भी स्थितिमें प्रतिकूलताका अनुभव नहीं करता। उसकी प्रतिकूलता-अनुकूलता भगवान्‌की मङ्गलमयी इच्छामें मिलकर नित्य सम उल्लासमयी स्थितिके रूपमें परिणत हो जाती है।

याद रक्खो—जिसने भगवान्‌के प्रति आत्मसमर्पण कर दिया है, वह इस जगत्‌को दूसरे लोगोंकी भाँति जड, अनित्य और दुःखपूर्ण नहीं देखता, उसकी आँखें बदल जाती हैं और वह इस चराचरात्मक समस्त जगत्‌को प्रतिक्षण शाश्वत चिदानन्दमय श्रीभगवान्‌के रूपमें देखता है एवं इसके प्रत्येक परिवर्तन और सृजन-संहारमें वह भगवान्‌की दिव्यलीलाका अनुभव करके आनन्दमग्न रहता है।

याद रक्खो—जिसने भगवान्‌के प्रति आत्मसमर्पण कर दिया है, वह नित्य परम शान्तिको प्राप्त करता है। अशान्ति या चित्तकी चञ्चलता तभीतक रहती है जबतक चित्तमें जन्म-मृत्युमय जगत्‌के अनन्त अनित्य दृश्य भरे रहते हैं, और जब चित्त भगवान्‌के चित्तमें मिलकर घुल-मिल जाता है, तब वह नित्य शान्तिमय भगवान्‌का निवासस्थल बन जाता है। सागरके ऊपर-ऊपर ही तरङ्गें उछलती हैं, उसका गम्भीर अन्तस्तल अत्यन्त शान्त होता है, इसी प्रकार चित्त जबतक बाहरी जगत्‌में रमता है, तबतक उसकी चञ्चलता नहीं मिटती, पर वही जब अनन्त अथाह गहराईमें जाकर भगवान्‌को पा जाता है, तब सर्वथा शान्त स्थितिमें पहुँच जाता है।

याद रक्खो—जिसने भगवान्‌के प्रति आत्मसमर्पण कर दिया है—वह आनन्दका दिव्य और अटूट भण्डार बन जाता है। उसके द्वारा नित्य आनन्दका स्रोत बहता रहता है और वह जगत्‌के अनेकानेक त्रितापतप्त प्राणियोंको दिव्य शान्तिमयी आनन्दसुधाधारामें बहाकर उनके तापको सदाके लिये मिटा देता है।

याद रक्खो—जिसने भगवान्‌के प्रति आत्मसमर्पण कर दिया है—वह यदि कुछ भी नहीं करता, तब भी उसका जगत्‌में अस्तित्वमात्र ही जगत्‌के कल्याणमें बहुत बड़ा सहायक बनता है। और जो महापातकी लोग भी उसके सम्पर्कमें आ जाते हैं, उनका भी जीवन पलट जाता है। वे घोर नरकसे निकलकर दिव्य भगवद्धाममें पहुँच जाते हैं। और वे भी तरण-तारण बन जाते हैं।

याद रक्खो—जिसने भगवान्‌के प्रति आत्मसमर्पण कर दिया है—उसके लिये भगवान्‌का दिव्य धाम उतर आता है, वह नित्य भगवद्धाममें ही सोता-जागता, चलता-फिरता, खाता-पीता और सारी क्रियाएँ करता है। वह कभी भगवान्‌से अलग नहीं होता और भगवान् कभी उससे अलग नहीं होते। उसके भीतर-बाहर सर्वत्र सदा भगवान् ही भरे रहते हैं।

'शिव'



भगवान्‌की दिव्य लीला

(श्री १००८ श्रीपूज्य स्वामीजी श्रीकरपात्रीजी महाराज)

वृन्दावन-नवयुवराज नन्दनन्दन श्यामसुन्दरने श्रीमद्वृन्दारण्यधाममें गोचारणके लिये प्रवेश किया। जिस परम-पावन धाममें तरु-लता-गुल्मादि भी वेणुच्छिद्रनिर्गत शब्दब्रह्मरूपमें परिणत भगवदीय अधर-सुधाका पानकर कुड्मल-पुष्प-स्तवकरूप रोमाञ्चोद्गम-छद्मसे तथा मदधारारूप हर्षाश्रुविमोकसे अपने दुरन्त भावका व्यक्तीकरण कर रहे हैं, जिस धाममें प्रेमातिशय-से प्रभुपादपद्माङ्कित व्रजभूमिगत ब्रह्मादिके वन्द्य रजके स्पर्शके लिये आज भी समस्त तरु-लताएँ विनम्र हो रही हैं, उस धामकी महिमा किन शब्दोंमें व्यक्त की जाय ? सरित्-श्रेष्ठ श्रीयमुनाजीके तटपर श्याम-तमाल, कदम्ब आदि वृक्ष माधवी, लवङ्गादि विविध लताओं-से परिवेष्टित हैं। शुभ कल्पवृक्षोंके अरण्यमें चतुर-चूड़ामणि व्रजवननवयुवराज ग्वालोंसमेत सुरभिवृन्दको हरी-हरी दूर्वाएँ नोच-नोचकर खिलाते हैं। जिस समय गौएँ इधर-उधर बिखर जातीं, उस समय मोहनकी मोहिनी मुरली बजती। नयनाभिराम घनश्यामकी मोहिनी मुरलिकाकी मधुर ध्वनि सुनते ही गौएँ दौड़ पड़तीं और समीप आकर कन्हैयाके परमकमनीय माधुर्य-का अनिमीलित नयनपुटोंसे पान करने लगतीं। श्यामसुन्दर भी उन्हें पुचकार-पुचकारकर सहलाने लगते। इस प्रकार मङ्गलमय दिनकी कुछ घटिकाएँ बीत गयीं, ग्वालबालोंसमेत व्रजेन्द्रनन्दनको भूख लगी। श्रीव्रजराजकुमार एक सुन्दर मणिमय चबूतरेपर ग्वालबालोंसमेत बैठ गये। अपनी-अपनी पोटली खोली, कमलके सुन्दर हरे-हरे पत्तोंपर सुन्दर-मधुर-मनोहर विविध भाँतिके पक्वान्न, मिष्टान्न रखकर सभी लोग खाने लगे। बीच-बीचमें बालचापल्ययुक्त क्रीडाएँ भी होती जाती थीं। ग्वालबाल श्यामसुन्दरके दिव्य मङ्गलमय मुखचन्द्रकी सौन्दर्य-माधुर्यसुधाका पान कर रहे थे और श्रोत्रपुटोंसे वेणुगीतपीयूषका, व्रजकिशोरके दिव्य वचनामृतका पानकर प्रेमविभोर हो रहे थे। भगवान्‌के सौन्दर्य-माधुर्य-सौगन्ध्य-सौकुमार्य आदि दिव्य गुणगणोंने उनका अपनापन हर लिया। किसी ग्वालबालने कहा—

न जाने सम्मुखायाते प्रियाणि वदति प्रिये।
प्रयान्ति मम गात्राणि श्रोत्रतां किमु नेत्रताम्॥

'प्यारे श्यामसुन्दर व्रजेन्द्रनन्दन जब मेरे सामने आकर अपनी प्यारी बातें सुनाते हैं, तब मैं नहीं जानता कि मेरा शरीर स्वयं श्रोत्र हो जाता है या नेत्र।'

इस मङ्गलमयी दिव्य क्रीडाको देखकर ब्रह्माको बड़ा आश्चर्य हुआ और वे सोचने लगे कि यदि श्रीकृष्णचन्द्र अनन्य, अखण्ड, अव्यक्त, पूर्ण परब्रह्मके अवतार होते, तो क्या गोपबालोंके साथ गँवारों-जैसी इस प्रकारकी क्रीडा करते और गोपबालोंका जूठन खाते? अन्ततोगत्वा ब्रह्मा भगवान्‌की अनन्तकोटिब्रह्माण्डनायकता, सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ताकी परीक्षा करने चले। उन्होंने बछड़ोंको चुरा लिया। ढूँढ़नेपर भी जब ग्वालबालोंको अपने बछड़े नहीं मिले, तब वे घबराये। भगवान् श्रीकृष्णने ग्वालबालोंसे कहा—'भैया! तुम यहीं ठहरो, मैं ढूँढ लाता हूँ।' भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ढूँढने चले। उस समय उनकी अमित शोभा हो रही थी। एक हाथमें मिसरी-माखन और दूसरे हाथमें मुरली एवं लकुटी शोभायमान थी। भगवान्‌ने ब्रह्माका सारा कौतुक जान लिया और अपनेको ही बछड़ोंके रूपमें बना डाला। उनके लिये यह कोई असम्भव नहीं, क्योंकि भगवान् 'कर्तुं अकर्तुं और अन्यथाकर्तुं समर्थ' हैं। इधर ब्रह्माने ग्वालबालोंको भी चुरा लिया। भगवान्‌ने कहा कि 'अच्छा ब्रह्मा! मैं तुम्हारी शक्ति देखता हूँ।' भगवान्‌ने अपने आपको ही समस्त ग्वालबालोंके रूपमें भी बना लिया।

श्रीमद्वृन्दारण्यधाममें सन्ध्या होने आयी। काषायवस्त्र धारण किये यतिराज भगवान् भास्कर अस्ताचलको प्रस्थान करने लगे। पक्षिवृन्द अपने-अपने घोंसलोंमें जाने लगे, भगवान् श्रीकृष्णने भी ग्वालबालों एवं बछड़ोंसमेत घरकी ओर प्रस्थान किया। उस समय

गौओंके गलेमें पड़ी हुई सुवर्णकी घण्टियोंसे टन-टनकी सुमधुर ध्वनि निकल रही थी। आकाश और श्रीकृष्णचन्द्रका मङ्गलमय मुखचन्द्र धेनुरेणुसे धूसरित हो उठा। सभी ग्वालबाल अपने-अपने घर पहुँचे। माताएँ अपने-अपने बच्चोंकी प्रतीक्षामें खड़ी थीं। उनके स्तनोंसे दुग्ध-स्राव हो रहा था। बच्चोंको देखते ही माताओंने उन्हें गोदमें उठा लिया और लगीं स्तनपान कराने। यद्यपि व्रजदेवियोंने अपने पुत्रोंसे व्यतिरिक्त भगवान् श्रीकृष्णको नहीं समझा था, तथापि आज-जैसा वात्सल्य-स्नेह उनमें कभी नहीं हुआ। अस्तु, माताओंने बड़े प्रेमसे बच्चोंको खिला-पिलाकर शयन करा दिया। रात्रि बीती। सूर्योदय हुआ। माताओंने अपने पुत्रोंको जगाया। उनके मुँह-हाथ धोये। स्नान कराया। सुन्दर दिव्य वस्त्राभूषणोंसे उनका शृङ्गार किया और कन्हैयाके साथ गोचारणके लिये उन्हें पुनः श्रीवृन्दारण्यधाममें भेज दिया। इधर ब्रह्माने समझा कि ग्वालोंसहित श्रीकृष्ण बड़े व्यग्र होंगे। उनके मनमें इस व्यग्रताको देखनेकी उत्सुकता हुई। ब्रह्मा आये। श्रीवृन्दारण्यधाममें देखा—वही रसिकमण्डली, वही ग्वालबाल, वही वेणुवादन और वही बछड़े। झट ब्रह्मा कन्दरामें गये, जहाँ उन्होंने ग्वालबालों और बछड़ोंको चुराकर छिपाया था। वहाँ उन सबको ज्यों-का-त्यों पाया। बाहर निकले, वही सखामण्डली, वही अनुपम दृश्य। अब ब्रह्माका होश ठिकाने आया। उन्हें भगवान्की अनन्तकोटिब्रह्माण्डनायकता, सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ताका ज्ञान हुआ। ब्रह्माने भगवान्को साष्टाङ्ग प्रणाम कर कहा—'अशरण-शरण, अनाथनाथ, अकारण-करुणा-वरुणालय विभो! यद्यपि मैंने आपकी कौतुकपूर्ण लीलामें विघ्न डाला, आपके बछड़ों और ग्वालबालोंका हरण करके बड़ा ही अपराध किया, तथापि प्रभो! जैसे अम्बा गर्भगत शिशुके पैर फटकारनेको अपराध नहीं मानती, वैसे ही आप भी मेरे ऐसे कर्मोंपर ध्यान न दें। प्रभो! सम्पूर्ण विश्व ही आपके उदरमें है, फिर गर्भगत शिशुके समान ही प्राणियोंके अपराधोंको क्षमा करना क्या आपको उचित नहीं है—

उत्क्षेपणं गर्भगतस्य पादयोः
किं कल्पते मातुरधोक्षजागसे।
किमस्तिनास्तिव्यपदेशभूषितं
तवास्ति कुक्षेः कियदप्यनन्तः॥

प्रभुने क्षमा कर दी।

कृपालु भगवान्ने प्राणिकल्याणार्थ सरल-से-सरल उपाय शास्त्रोंद्वारा बतला रक्खे हैं। पत्र-पुष्प-फल-जल-नमस्कारसे ही प्रभु प्रसन्न हो सकते हैं। कुछ भी न हो, तो केवल मनसे ही पूजन-स्मरण करे और वह भी न बने, तो भाव-कुभाव जिस किसी भी तरह भगवन्नामके सङ्कीर्तन या जपसे ही परमगति प्राप्त हो सकती है। भगवान्का मङ्गलमय नाम अति ही सुगम है। जिह्वा अपने वशकी है, फिर भी लोग नरकमें जाते हैं, यही बड़ा आश्चर्य है—

सुगमं भगवन्नाम जिह्वा स्ववशवर्तिनी।
तथापि नरकं यान्ति किमाश्चर्यमतः परम्॥

अस्तु, निःसङ्कोच और निर्भय होकर भगवान्का सङ्कीर्तन और भगवन्नामका जप किया जाय, तो सहजमें ही प्रभु अनन्तानन्त जन्मोंके अपराधोंको भूल जायँगे और उन्हें अपनी करुणापरवशताके कारण प्रसन्न होना ही पड़ेगा। पर याद रहे, भगवन्नाम-सङ्कीर्तन अथवा जपके साथ-साथ स्वधर्मानुष्ठान एवं पापपरिवर्जनकी बड़ी आवश्यकता है। अन्यथा जैसे कुपथ्यसेवनसे उत्तमोत्तम ओषधियाँ—वसन्तमालती, चन्द्रोदय, मृगाङ्क आदि अकिञ्चित्कर ठहरती हैं, वैसे ही स्वधर्मत्याग, पापाचार और दुराचारसे भगवन्नामका अमित प्रताप भी अकिञ्चित्कर हो जाता है। इसलिये असत्कर्मोंसे बचकर स्वधर्मानुष्ठानकी बड़ी आवश्यकता है। इसी प्रकार ईश्वरपरायणता और स्वधर्मानुष्ठानसे विश्व सुखशान्ति प्राप्तकर निःश्रेयसका भी भागी बन सकता है।

विचारोंका संयम

कभी-कभी हमारे मनमें रहनेवाले विचारोंसे इतना भारी अनर्थ हो जाता है कि जिसकी हमें कल्पनातक नहीं होती। मान लीजिये—हम बाजार चले। उसी रास्तेमें सड़कपर दो व्यक्ति लड़ रहे हैं। उन्हें लड़ते देखकर हम खड़े हो गये। बिना बोले चुपचाप कुछ देरतक उनको लड़ते हुए देखते रहे। इस देखनेका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि हम उन दोनोंमेंसे किसी एकके प्रति मन-ही-मन झुक पड़े; एकका पक्ष हमें अपेक्षाकृत ठीक एवं दूसरेका भूल दीखने लगा। हमारे अंदर भी क्रोधके परमाणु थे, जो प्रायः रहते हैं ही; परिणाम यह हुआ कि हमें जिसकी भूल दीखती थी, उसके प्रति हमारे मनमें भी क्रोधका सञ्चार हो गया। हमारा उन दोनों व्यक्तियोंमें किसीसे भी कोई सम्बन्ध नहीं था, फिर भी मन-ही-मन हम गरम हो उठे। और उसके प्रति क्रोधसे सने विचार उत्पन्न होने लगे। इतनेमें दीखा कि हमने जिसका मन-ही-मन पक्ष लिया था, उसने अपने प्रतिपक्षीके सिरपर जोरसे लाठी जमा दी और उसका सिर फूट गया। लोग दौड़ पड़े, पुलिस भी आ गयी। हमें भी प्रतीत हुआ कि आह! यह तो बुरा हुआ तथा यह सोचते हुए हम अपने रास्ते चले गये। पुलिसने मारनेवालेको चलान कर दिया; क्योंकि प्रत्यक्ष था कि इसने एकका सिर फोड़ा है। उसे सजा भी हो गयी।

किंतु इस घटनामें एक बात ऐसी हुई है जिसे किसीने नहीं जाना। वह बात पुलिसकी रिपोर्टमें नहीं आयी, हमने भी नहीं जाना। वह बात यह है कि वास्तवमें सिर फोड़नेका अपराधी वह अकेला ही नहीं है, जिस बेचारेको सजा हुई है, हम भी हैं। यह सुनकर हम भले चकरा उठें पर बात बिल्कुल सच्ची है। हमारे न जानने, न माननेपर भी, जनताके द्वारा सज्जन पुरुष होनेका प्रमाणपत्र पा लेनेपर भी, यह बात सच्ची ही रहेगी।

इसको ठीकसे समझनेके लिये इस प्रकार विश्लेषण करें—दोनों लड़ रहे थे, दोनोंमें ही क्रोध था। किंतु जिसने सिर फोड़नेका अपराध किया है, उसमें पहले क्रोधकी मात्रा इतनी, ऐसी नहीं थी कि वह लाठी मारनेकी क्रियामें हेतु बन सके। इस क्रियाके लिये जितना क्रोध जाग्रत् होना चाहिये, उतना उसमें हमारे वहाँ जानेसे पूर्व अवश्य ही नहीं था। दुर्दैवयोगसे हम वहाँ जा पहुँचे। हमने उसका मन-ही-मन पक्ष लिया। हमारा क्रोध उमड़ा और उसने वहाँ उसके पास जाकर जितनी कमी थी, उसकी पूर्ति कर दी। लाठी मारनेके लिये जितना क्रोध उसमें घट रहा था, उतना हमने अपनी ओरसे उसे दे दिया और उसने लाठी मार दी। दूसरे शब्दोंमें लाठी मारनेकी जो क्रिया हुई है, वह हमारे क्रोधसे सम्पन्न हुई है। यदि हम वहाँ न जाते, जाकर यदि शान्त सुस्थिर बने रहते तो उसके क्रोधको बल नहीं मिलता तथा यह क्रिया न घटती। उसके पास तो इतना ही क्रोध था कि खूब बकने-झकनेमें ही वह उलझा रहता। पर हमारे अंदरकी आग उसके पास बिना किसीको दीखे जा पहुँची और उसने उसके द्वारा यह कुकृत्य करवा दिया। फिर हम भी अपराधी कैसे नहीं हुए?

सोचकर देखेंगे तो पता चलेगा कि अनजानमें ही हमारे द्वारा प्रतिदिन न जाने ऐसी कितनी घटनाएँ घटती हैं, कितनी बार ऐसे अलक्षित अपराध बनते रहते हैं। तथा ठीक इससे विपरीत, यदि हमारे शुभ विचार हैं तो उनसे हमारे बिना जाने ही कितनोंकी सेवा हो जाती है। जैसे हम किसी व्यक्तिसे मिलने गये। वहाँपर एक और कोई दुखी व्यक्ति बैठा है,

अपनी दुःखगाथा सुना रहा है। हम भी सुनने लगे। सुनते-सुनते हमारे मनमें सहानुभूति उत्पन्न हुई, हृदय करुणासे भर आया, मनमें आया कि इसकी सहायता अवश्य होनी चाहिये। इतनेमें वह व्यक्ति, जिससे हम मिलने गये थे, दुखीको सान्त्वना देते हुए कह उठा—'आप चिन्ता न करें, आपका काम मैं अभी कर देता हूँ।' तथ उसने वह काम तुरंत कर भी दिया। अब यहाँ हमने अपने मुँहसे उसकी कोई भी सिफारिश नहीं की, अपनी जानमें उसकी सहायता करनेकी कोई चेष्टा भी न की। पर वास्तवमें अभी-अभी जो उसकी सहायता हुई है, उसमें हमारा भी भाग है। हमारे आनेसे पूर्व उस व्यक्तिमें सद्भावना अवश्य थी, पर इतनी मात्रामें नहीं थी कि वह तुरंत सक्रिय रूप धारण कर ले। किंतु हमारी मनोगत सहानुभूति और करुणाने उसके मनको स्पर्श कर लिया, सक्रिय सहायताके लिये जितनी सहानुभूति और करुणा घट रही थी, उसकी पूर्ति हो गयी। बस, काम हो गया। लोगोंको भले ही इसका पता न लगे, जिसकी सहायता हुई, जिसने की, वे दोनों भी न जानें, हमें भी कल्पना न हो कि हमने भी कुछ किया है, पर असलमें वह सेवा सम्पन्न हुई है हमारी सद्भावनासे। हमारी प्रबल सहानुभूतिका बल उसे यदि उस समय नहीं मिलता तो सम्भवतः उसकी सद्भावना तुरंत सक्रिय रूप धारण नहीं करती।

और भी व्यापक दृष्टिसे इस बातपर विचार करें। कल्पना कर लें, दो देशोंमें युद्ध हो रहा है। वे देश हमसे हजारों कोस दूर हैं। आँखोंसे हमने उन देशोंको देखा नहीं। केवल समाचारपत्रोंसे ही युद्धकी घटना पढ़ते-सुनते हैं। पर कुछ ही दिनोंमें यह परिणाम होता है कि एकके प्रति हमारे मनमें पक्ष हो जाता है। हम एककी विजय चाहने लगते हैं और दूसरेकी पराजय। उसकी विजय सुनकर हमारे मनमें उल्लास होता है, पराजय सुननेपर हृदयमें ठेस लगती है। अब यदि यह कहा जाय कि वहाँकी वैमनस्यकी आग उत्तरोत्तर प्रज्वलित करते रहनेमें, युद्धसे होनेवाले भयङ्कर नरसंहारमें हम भी योगदान कर रहे हैं, तो इसमें तनिक भी अत्युक्ति नहीं है। हम यह कह भले ही दें कि हमारा क्या सम्बन्ध है, हम तो अखबार पढ़ते हैं तथा फिर जैसा ठीक लगता है, कह देते हैं। पर बात ऐसी नहीं है। सचमुच हमारे द्वारा अनजानमें ही उस पापमें योगदान दिया जा रहा है, अनेकोंकी जान लेनेमें हम भी सहायता कर रहे हैं। यह सदा ध्यानमें रखनेकी बात है कि जगत्में जो भी घटनाएँ घटित होती हैं, उनमें, यदि हमारे विचार अच्छे हैं तो अच्छीके साथ, बुरे हैं तो बुरी घटनाके साथ हमारा न्यूनाधिक कुछ-न-कुछ निश्चित सम्बन्ध है ही। यहाँकी घटना वस्तुतः है ही हमारे मनके विचारोंके मूर्तरूप। दो महायुद्ध हुए। ये क्या थे? बस, जहाँ-जहाँ द्वेषपूर्ण विचार थे, सब एकत्र हो गये और वे ही भीषण नरसंहारके रूपमें प्रकट हो गये। ऐसे ही जगत्में जहाँ-जहाँ सद्विचार हैं, वे एकत्र होते हैं तो फिर उनसे प्रेम, शान्ति-सुख बढ़ानेवाली घटनाओंका विस्तार होता है। हमारे अंदर यदि तनिक भी बुरे विचार हैं तो वे अपनी शक्तिके अनुसार निकट एवं दूर बुरी घटना घटनेमें हेतु बनेंगे तथा हमारा तनिक-सा सद्विचार समीप एवं दूरके वातावरणमें शुभकी सृष्टिमें सहायक बनेगा।

इसीलिये आज जब कि सर्वत्र दुःख, अशान्ति बढ़ रही है, घृणा-द्वेषमूलक घटनाओंकी संख्या बढ़ती जा रही है, ऐसे समयमें हमें अपने विचारोंके संयमकी अत्यधिक आवश्यकता है। अन्यथा हम घर बैठे-बैठे अखबारोंको पढ़-पढ़कर, रास्ते चलते हुए किसी घटनाको देख-सुनकर अलक्षित अपराध करते रहेंगे, जिसका परिणाम हमारे लिये, विश्वके लिये और भी अत्यन्त भयावह होगा। ऐसा न हो, इसके लिये, हमारे

मनमें असद्विचार उत्पन्न होनेकी सम्भावना ही न रहे, निरन्तर परम शुभसे मन पूर्ण रहे, ऐसी स्थिति हमें उत्पन्न करनी पड़ेगी ।

यों तो इसके लिये मनीषियोंने अनेकों उपाय बताये हैं, पर सर्वोत्तम उपाय है, अपने मनसे जगत्की कल्पना-को ही मिटा देना तथा जगत्के स्थानपर सदा सर्वत्र एकमात्र आनन्दमय प्रभुकी सत्ताके ही दर्शन करना । यह हुआ कि फिर असद्विचारकी जड़ ही कट जायगी । सर्वत्र भगवद्भाव हो जानेपर जानमें, अनजानमें कभी किसी प्रकारका अपराध हमसे घट नहीं सकता । हमारे द्वारा जो अशुभका विस्तार होता है, अशुभको प्रेरणा मिलती है, वह फिर होनेकी ही नहीं । फिर तो परम शुभ प्रभुमें प्रतिष्ठित होकर हम सदा सबमें शुभका ही वितरण करते रहेंगे ।

वास्तवमें सच्ची बात भी यही है कि जहाँ हमें जगत् दीखता है, वहाँ सर्वथा सर्वत्र प्रभु-ही-प्रभु भरे हैं, उनके अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं । पर हमें ठीक-ठीक ऐसी ही अनुभूति हो, तब काम बने । इस अनुभूतिके लिये यह आवश्यक नहीं कि हम खूब पढ़े-लिखे हों, दर्शनशास्त्रका हमारा गम्भीर अध्ययन हो, कई कलाओंके मर्मज्ञ हों, अमुक देशके वासी और अमुक वर्ण-जातिके ही हों । इसके लिये तो आवश्यकता इतनी ही है कि एक तो हमारा इस सिद्धान्तपर सरल विश्वास हो, हमारी बुद्धि इसको असन्दिग्ध और निश्चित रूपसे स्वीकार करती हो कि एकमात्र प्रभु ही सर्वत्र अवस्थित हैं, और दूसरी बात यह कि हम इस भावकी बारंबार आदरपूर्वक अधिक-से-अधिक आवृत्ति करते रहें । लगनपूर्वक की हुई आवृत्ति कुछ ही दिनोंमें हमारी बुद्धि-के निश्चयको मनमें उतार देगी तथा प्रयत्न जारी रहने-पर इन्द्रियोंको भी इस सत्यकी अनुभूति होते देर नहीं लगेगी । किंतु प्रयत्न हो तब न ? यहाँ तो 'कूँए भाँग पड़ी'की कहावत चरितार्थ हो रही है । आज समष्टिकी ही प्रवृत्ति प्रायः प्रभुको भूले रहनेकी बन गयी है । हम अधिकांश ऐसे बन गये हैं कि आनन्दस्वरूप प्रभु-को भूलकर सुख पानेकी लालसासे दिन-रात जागतिक विषयोंके, जो अनित्य और दुःखमय हैं, पीछे ही दौड़ते रहते हैं । इससे सुख तो हमें कभी मिलता नहीं, पद-पदपर दुःख मिलता है; अच्छी तरह जान लेते हैं कि उनसे सुख मिलनेका नहीं, पर जानकर भी नहीं जान पाते, उन्हें छोड़ना तो दूर, उत्तरोत्तर उन्हींमें उलझते जाते हैं । अनादि संस्कारोंसे मनपर मलिनताकी मोटी तह जमा हो गयी है, कभी हमारे विवेकका द्वार खुलता ही नहीं कि जिसके छिद्रसे प्रभुके निर्मल प्रकाशकी किरणें हमारे अंदर प्रवेश कर सकें; क्षणभरके लिये भी हमें भान नहीं होता कि हमारा कल्याण एकमात्र परम पिता प्रभुसे ही सम्भव है । उन्हें अपने हृदय-मन्दिरमें पधारनेकी वासना ही हममें कभी नहीं जागती, उनसे जुड़नेके लिये हमारा मन कभी लालायित ही नहीं होता । वहाँ तो निरन्तर जागतिक विषयोंके अभावकी आग ही धधकती रहती है । विषयोंकी प्यास कभी शान्त होती ही नहीं, इन्हें एकत्र करनेमें ही जीवन समाप्त हो जाता है; यों कह दें, जीवनभर तालाब खोदते बीत जाता है, पर पानीकी बूँद एक भी नहीं मिलती, प्यास तनिक भी नहीं बुझती—

कबहूँ मन बिश्राम न मान्यो ।
निसिदिन भ्रमत बिसारि सहज सुख,जहँ तहँ इंद्रिन तान्यो ॥
जदपि बिषय-सँग सह्यो दुसह दुख, बिषम जाल अरुझान्यो ।
तदपि न तजत मूढ़ ममताबस, जानतहूँ नहिं जान्यो ॥
जनम अनेक किये नाना बिधि करम-कीच चित सान्यो ।
होइ न बिमल बिबेक-नीर बिनु, बेद पुरान बखान्यो ॥
निज हित नाथ पिता गुरु-हरिसों हरषि हृदै नहिं आन्यो ।
तुलसिदास कब तृषा जाय सर खनतहि जनम सिरान्यो ॥

ऐसी हमारी गिरी दशा है । अब हो तो क्या हो ! फिर भी यदि हमारा विवेक सर्वथा मर नहीं गया हो, हममें यदि प्रभुके प्रकाशकी क्षीण रेखा भी वर्तमान हो,

यदा-कदा भी प्रभुकी स्मृति किसी भी बहानेसे हमारे अन्तःकरणमें जाग उठती हो, जगत्में सुख-शान्ति बढ़े, यह शुभ भावना कभी उत्पन्न होती हो तो हमें सावधान होकर अपने विचारोंका संयम करना चाहिये, विकारोंको दमन करनेके प्रयासमें लगना चाहिये। हम तत्परतासे सर्वत्र प्रभुको देखनेका अभ्यास आरम्भ करें। फिर निश्चय ही विकार शान्त होने लगेंगे, शुभ भावनाएँ बढ़ने लगेंगी। घरमें माता-पिता, स्त्री-पुत्र, भाई-बन्धु, नौकर-चाकर आदि जो भी हों; गाय, घोड़े, कुत्ते आदि पशुओंमेंसे जो भी हमारे आश्रयमें पलते हों, तथा बाहर दूकान, पाठशाला, कार्यालय, कचहरी, अस्पताल, बाग, बगीचे, खेत, जंगल, नदी, तालाब, कुँआ, खेलके मैदान आदि स्थानोंपर, जहाँ कहीं भी जिस किसीके भी सम्पर्कमें आनेका हमारा काम पड़ता हो, उन सबमें हम प्रभुको देखनेका अभ्यास करें; प्रभु ही इस रूपमें हमारे समक्ष उपस्थित हैं, ऐसी भावना करें; इस भावनाकी बारंबार आवृत्ति करें। फिर हमारी तत्परताके अनुरूप सफलता हमें मिलेगी ही। यदि यह भावना सक्रिय होगी तब तो फल प्रकट होनेमें बहुत ही कम समय लगेगा। सक्रियका अर्थ यह कि भावना यथासम्भव व्यवहारमें उतरे। जैसे पड़ोसका कोई एक व्यक्ति हमारे पास आवे। आते ही हमने भावना की कि प्रभु पधारे हैं। पर इतनेमें ही उसने हमसे किसी वस्तुकी याचना कर दी। वह वस्तु हमारे पास है भी, हमारी आवश्यकतासे अधिक भी है, हम यह भी जानते हैं कि उसे इस वस्तुकी जरूरत है। पर अपने अंदर संग्रहकी वृत्ति होनेके कारण अथवा अनुदारताका दोष रहनेके कारण हम देनेमें हिचकिचा जाते हैं या देकर अनुत्साह—पश्चात्तापका अनुभव करते हैं अथवा कुछ दिनोंके बाद दी हुई वस्तुके लिये उसपर अहसान करते हैं तो यहाँ उस पड़ोसीके प्रति की हुई भगवद्भावना सक्रिय नहीं हुई। यदि उसकी याचना सुनकर मन उल्लाससे भर जाता है, यह भावना आती है कि नाथ! तुम्हारी कितनी कृपा है, हमें अपनी सेवाका अवसर देने आये हैं। तथा यदि वह पड़ोसी कृतज्ञतावश हमारी इस सेवाकी कहीं चर्चा कर दे तो हम सङ्कोचसे गड़ जायँ—हमारी ऐसी दशा है तो वह भावना सक्रिय हुई। थोड़ेमें कहनेपर यह कि हमारे पास जो कुछ है, उसे यथासम्भव यथायोग्य विश्वरूप प्रभुकी सेवामें लगाकर हम हर्षित हों, उत्तरोत्तर हमारा मन कृतज्ञतासे भरता जाय तब तो हमारी की हुई प्रभु-भावना सक्रिय है। अन्यथा वह प्रेरणात्मक विचारमात्र (Suggestion) ही है। नहींकी अपेक्षा तो विचारमात्रकी भगवद्भावना भी बहुत सुन्दर है। इससे भी अशुभ विचारोंके प्रवाहमें बड़ी रोक लगती है। पर सच्चा एवं पूरा-पूरा तथा शीघ्र-से-शीघ्र फल तो सक्रिय भावनासे ही प्राप्त होता है।

विकारोंका दमन होनेमें, विचारोंका संयम होनेमें उपर्युक्त उपाय अमोघ है। पर कदाचित् कोई इसपर श्रद्धा न कर सके तो उसे भी अपने एवं जगत्के हितके लिये कम-से-कम दो बातें अवश्य करनी चाहिये—

(१) कोई शुभ भाव जो सबसे अधिक प्रिय हो अपने मनके पीछे सदा रक्खे। तथा उस भावके सूचक किसी वाक्यको मन-ही-मन जागनेसे सोनेतक—जब भी अवकाश हो अधिक-से-अधिक स्मरण करे, उसकी अधिक-से-अधिक आवृत्ति करे। जैसे सत्य बोलना प्रिय लगे तो इसके सूचक एक वाक्य 'सत्यं वदिष्यामि' 'सदा सत्य बोलूँगा'—इसको बार-बार स्मरण करे। प्रेम करना प्रिय हो तो 'मैं सदा सबसे प्रेम करूँगा।' यह बारंबार स्मरण करे। बारम्बार स्मरण करनेका यह परिणाम होगा कि मनमें इसकी आवृत्ति करनेकी आदत पड़ जायगी तथा जब कभी भी हमारा मन खाली होगा उस समय इस भावका जप शुरू हो जायगा। और शुभ भावोंकी आवृत्ति होते समय अन्य असद्भाव एवं विकारोंके प्रवेशके लिये अवकाश कम रह जायगा। इस

प्रकार जगत्‌में शुभको बढ़ाने एवं अशुभकी मात्रा घटाने-में हम हेतु बनेंगे।

(२) हम किसी समय निकम्मे नहीं रहें। कुछ-न-कुछ सत्प्रवृत्तिमें ही यथासम्भव मन एवं शरीर दोनों लगे रहें। निठल्ले मनमें असद्विचारके प्रवेशके लिये बहुत अधिक, शुभ विचारके लिये बहुत कम सम्भावना रहती है।

एक संतने कहा है—

'यदि भला न कर सको तो बुरा करनेसे तो बचो।' यह वचन हमारे लिये बहुत महत्त्वका है। शुभका विस्तार यदि हम न कर सकें, तो बुराईको तो रोके ही रहें। इसीलिये विचारोंका संयम परम आवश्यक है।

श्रीकृष्णलीलाका चिन्तन

(३२)

व्रजरानीकी सरस शिक्षा, अपने नीलमणिको स्तन-पानसे विरत करनेका प्रेमिल प्रयास श्रीकृष्णचन्द्रके अरुण अधरोंपर स्मितका सञ्चार कर देता है। वे और भी उल्लासमें भरकर जननीके वक्षःस्थलका अञ्चल खींचते हुए उसमें अपना मुखचन्द्र छिपा लेते हैं। मैया उन्हें रोकनेकी-सी बाह्य चेष्टा करती हुई कहती हैं—

जसुमति कान्हहिं यहै सिखावति।
सुनहु स्याम, अब बड़े भए तुम, यह कहि स्तन-पान छुड़ावति॥
ब्रज-लरिका तोहिं पीवत देखत, हँसत, लाज नहिं आवति।
जैहैं बिगरि दाँत ये आछे, तातैं कहि समुझावति॥
अजहूँ छाँड़ि कह्यौ करि मेरौ, ऐसी बात न भावति।
सूरस्याम यह सुनि मुसुक्याने, अंचल मुखहिं लुकावत॥

इतनेमें सुबल, श्रीदाम, उज्ज्वल, वसंत, कोकिल आदि सखा प्राङ्गणमें प्रवेश करते हैं। फिर तो श्रीकृष्ण-चन्द्र जननीके अङ्कमें रह सकें, यह सम्भव कहाँ। वे तत्क्षण गोदसे उतरकर भाग छूटते हैं। श्यामल श्रीअङ्गोंका त्रिभुवनमोहन सौन्दर्य प्राङ्गणको उद्भासित करने लगता है। उस आलोकमें जननीके नेत्र तो निस्पन्द हो ही गये, अन्तरिक्षमें अवस्थित अमरवृन्द भी विथकित रह जाते हैं—

अजिर पद-प्रतिबिंब राजत, चलत उपमा-पुंज।
प्रति चरन मनु हेम बसुधा, देति आसन कंज॥
सूर प्रभुकी निरखि सोभा रहे सुर अवलोकि।
सरद चंद चकोर मानौ, रहे थकित बिलोकि॥

दौड़ते हुए श्रीकृष्णचन्द्र तपनतनयाके तीरपर जा पहुँचते हैं, और वहाँ विविध विचित्र क्रीडाओंमें संलग्न हो जाते हैं। आज इन्हें अग्रज बलरामका सहयोग प्राप्त है। अन्यथा गत कई दिनोंसे दोनों भाई परस्पर खेलते-खेलते प्रतिदिन ही लड़ लेते थे। एक दिन तो श्रीकृष्ण-चन्द्र अग्रजसे इतना रूठ गये कि खेल छोड़कर व्रजेश्वरीके पास जा पहुँचे और दाऊ भैयाकी सारी करतूत उन्होंने मैयाको सुना दी—

मैया मोहिं दाऊ बहुत खिझायौ।
मोसौं कहत मोल कौ लीन्हौ तू, जसुमति कब जायौ?
कहा करौं इहि रिस के मारैं खेलन हौं नहिं जात।
पुनि-पुनि कहत कौन है माता, को है तेरौ तात॥
गोरे नंद, जसोदा गोरी, तू कत स्यामल गात।
चुटकी दै-दै ग्वाल नचावत, हँसत सबै मुसुकात॥
तू मोहीं कौं मारन सीखी, दाउहिं कबहुँ न खीझै।

जननीने जब गोधनकी शपथ लेकर सान्त्वना दी, तब कहीं जाकर श्रीकृष्णचन्द्र शान्त हुए, खेलमें पुनः जानेके लिये प्रस्तुत हुए—

मोहन-मुख रिस की ये बातैं, जसुमति सुनि-सुनि रीझै॥
सुनहु कान्ह, बलभद्र चबाई, जनमत ही कौ धूत।
सूरस्याम मोहिं गोधन की सौं, हौं माता तू पूत॥

कल भी दाऊ भैयाने श्रीकृष्णचन्द्रको डरा दिया। वे भयसे थरथर काँपते हुए घर भागे, सीधे रोहिणी मैयाके पास गये एवं दाऊ भैयाकी इस कठोर चेष्टाकी खूब निन्दा की—

देख री रोहिणी मैया ! कैसे हैं बलदाऊ भैया ।
यमुना के तीर मोहि झुझुवा बतायो ।
सुबल श्रीदामा साथ हँस-हँस बूझत बात
आप डरपे और मोहि डरपायो ॥
जहँ-जहँ बोलें मोर चितै रहत ताही ओर
भाजो रे भाजो रे मैया वह देखो आयो ।
आप गये तरु चढ़ मोहि छाँड्यो वाहि तर
धर धर छाती करै दौर्‌यो घर आयो ॥

सब बातें सुनकर रोहिणी मैयाने नीलमणिको कण्ठसे लगा लिया । फिर ब्राह्मणको बुलाकर विधिपूर्वक नीलमणिके ही हाथोंसे गोदान करवाया । तब नीलमणिको शान्ति मिली—

उछंग सो लिये लगाय कंठ सो रहे लपटाय
वारी रे वारी मेरो हियो भर आयो ।
परमानंद रानी द्विज बुलाय बेद मंत्र पढ़ाय
बछिया को पूँछ गहि हाथहि दिवायो ॥

किंतु आज दोनों भाइयोंमें कोई झगड़ा नहीं । अतिशय प्रेमपूर्वक परस्पर एक दूसरेका पक्ष समर्थन करते हुए दोनों क्रीडामें तन्मय हो रहे हैं । भुवनभास्कर क्रमशः ऊपर उठते हुए आकाशके मध्यमें आ गये, पर राम-श्यामकी क्रीडाका विराम नहीं हुआ । आज बलराम एक-से-एक बढ़कर सुन्दर खेलकी योजना रखते हैं तथा श्रीकृष्णचन्द्र एवं अन्य गोपशिशु उसीके अनुसार खेलने लगते हैं । घर लौटनेका समय तो कबका समाप्त हो चुका है । पर यह स्मरण किसे है ? आज तो श्रीकृष्णचन्द्रकी ही प्रत्येक बार विजय होती है । इस विजयोल्लासमें वे अन्य सब कुछ भूल गये हैं । इसी समय व्रजेश्वरीसे प्रेरित होकर रोहिणी मैया वहाँ आ पहुँचती हैं । बड़ी देरतक प्रतीक्षाके अनन्तर भी जब राम-श्याम घर नहीं पहुँचे तो मैयाने अतिकाल होते देखकर श्रीरोहिणीको बुलाने भेजा है । अर्जुन वृक्षकी घटनाके अनन्तर मैयाको यह शङ्का लगी ही रहती है, कि क्या पता कहीं फिर कोई वृक्ष न टूट पड़े । तनिक भी देर होते ही वे श्रीकृष्णचन्द्रको ढूँढ़ने निकल पड़ती हैं । आज ब्राह्मण-भोजनकी व्यवस्थामें लगी थीं । भूदेवोंकी सेवा छोड़कर आना सम्भव नहीं था, इसलिये श्रीरोहिणीको भेजा है । वे आकर देखती हैं—सभी गोपशिशु क्रीडामें उन्मत्त हैं, राम-श्याम उनके साथ दौड़ रहे हैं । बलराम-जननीके लिये यह सम्भव नहीं कि वे पुत्रोंके समीप जा सकें, क्योंकि उनके पहुँचते-न-पहुँचते सभी शिशु उनसे विपरीत दिशामें दौड़ पड़ते हैं । अतः रोहिणी मैया श्रीकृष्ण एवं बलरामका नाम ले-लेकर पुकारने लगती है—

सरित्तीरगतं कृष्णं भग्नार्जुनमथाह्वयत् ।
रामं च रोहिणी देवी क्रीडन्तं बालकैर्भृशम् ॥
(श्रीमद्भा० १० । ११ । १२)

किंतु उत्तर कौन दे ? श्रीरोहिणीकी पुकार भी उनतक पहुँचे तब तो, उस आनन्दकोलाहलसे तीर मुखरित है, समस्त उपवन निनादित हो रहा है । अब मैयाके मृदु-कण्ठसे निकली ध्वनिमें—पुकारमें इतनी शक्ति कहाँ जो उसे भेदकर राम-श्यामका ध्यान आकर्षित कर सके । वे पुकारती-पुकारती थक गयीं, पर एक बारके लिये भी कोई उत्तर नहीं मिला । न मैया उनके पासतक पहुँच सकीं, न वे उनके पास आये । खेलके आवेशमें भूले हुए दोनोंने रोहिणी मैयाकी ओर देखातक नहीं । निरुपाय होकर बलरामजननी लौट गयीं । घर आकर व्रजेश्वरीको ही बुलाने भेजा—

नोपेयातां यदाऽऽहूतौ क्रीडासङ्गेन पुत्रकौ ।
यशोदां प्रेषयामास रोहिणी पुत्रवत्सलाम् ॥
(श्रीमद्भा० १० । ११ । १३)

व्रजेश्वरीने आकर देखा—मानो एक नीलोत्पल अपने ही परागसे सन गया हो, इस प्रकार श्रीकृष्णचन्द्रके श्रीअङ्ग धूलिसे भरे हैं । मनोहर बाल्यभङ्गिमाका प्रकाश करते हुए वे बलराम एवं गोपशिशुओंके साथ खेल रहे हैं । मैयाका वात्सल्य उमड़ पड़ता है । स्तनोंसे दूधकी धारा बहने लगती है, अञ्चल भीग जाता है । गद्गद कण्ठसे वे श्रीकृष्णचन्द्रको बारंबार पुकारने लगती हैं—

क्रीडन्तं सा सुतं बालैरतिवेलं सहाग्रजम्।
यशोदाजोहवीत् कृष्णं पुत्रस्नेहस्नुतस्तनी ॥
(श्रीमद्भा० १० । ११ । १४)

श्रीकृष्णचन्द्रके पास उनकी पुकार पहुँच रही है या नहीं, इसकी चिन्ता किये बिना ही वे कहती जा रही हैं—

कृष्ण कृष्णारविन्दाक्ष तात एहि स्तनं पिब।
अलं विहारैः क्षुत्क्षान्तः क्रीडाश्रान्तोऽसि पुत्रक ॥
(श्रीमद्भा० १० । ११ । १५)

'मेरे लाल! अरे कृष्ण! कमलनयन! बेटा! सुन तो सही! अरे शीघ्र आ जा! देख! मैं तुझे स्तन पिलाने आयी हूँ, तू स्तनपान तो कर ले। बहुत खेल चुका, अब खेल रहने दे। अरे तुझे भूख जो लग रही है। देख! खेलते-खेलते तू कितना थक गया है। अब आ जा!'

किंतु श्रीरोहिणीकी भाँति व्रजेश्वरीको भी इस आह्वानका कोई उत्तर नहीं मिलता। कुछ क्षण वे शान्त खड़ी रहती हैं, फिर बलराम एवं गोपशिशुओंको पुकारती हैं—

हे रामागच्छ ताताशु सानुजः कुलनन्दन।
प्रातरेव कृताहारस्तद् भवान् भोक्तुमर्हति ॥
प्रतीक्षते त्वां दाशार्ह भोक्ष्यमाणो व्रजाधिपः।
एह्यावयोः प्रियं धेहि स्वगृहान् यात बालकाः ॥
(श्रीमद्भा० १० । ११ । १६-१७)

'अरे! राम! कुलदीपक! तू आ जा बेटा! और साथमें नीलमणिको भी ले चल। अरे देख, प्रातःकाल तूने कलेऊ किया था, तबसे कुछ नहीं खाया, क्या तुझे भूख नहीं लगी? अवश्य लगी है, अब तो शीघ्र-से-शीघ्र भोजन करना चाहिये! यदुकुलभूषण! तू बात मान ले बेटा! देख! व्रजेश्वर भोजनपर बैठे तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे हैं। आ जा, हमलोगोंको भी तो सुख दान कर। और गोपबालको! सुनते हो, तुम सब भी अपने-अपने घर चले जाओ।'

इससे पूर्व न जाने कितनी बार व्रजेश्वरी राम-श्यामकी क्रीडा स्थगित कर अपने साथ भोजनके लिये घर ले गयी हैं तथा उन-उन अवसरोंपर श्रीकृष्णचन्द्र न सुनें, राम भी अनसुनी कर दें, पर गोपशिशु व्रजेश्वरीकी बात सुन लेते थे। वे खेलना छोड़ देते थे। फिर राम-श्याम किसके साथ खेलें? किंतु आज तो वे सब भी क्रीडामत्त हो रहे हैं। व्रजेश्वरी आयी हैं, यह भी उन्हें भान नहीं। अतः हारकर मैया पुनः श्रीकृष्णचन्द्रका ही आह्वान करने लगती हैं—

नंद बुलावत हैं गोपाल।
आवहु बेगि बलैया लेउँ हौं, सुंदर नैन बिसाल ॥
परस्यौ थार धर्यौ मग जोवत, बोलति बचन रसाल।
भात सिरात तात दुख पावत, बेगि चलौ मेरे लाल ॥

श्रीकृष्णचन्द्रका ध्यान आकर्षित करनेके लिये आज यशोदा रानीने न जाने कितनी युक्तियोंका आश्रय लिया—

धूलिधूसरिताङ्गस्त्वं पुत्र मज्जनमावह।
जन्मर्क्षमद्य भवतो विप्रेभ्यो देहि गाः शुचिः ॥
पश्य पश्य वयस्यांस्ते मातृमृष्टान् स्वलंकृतान्।
त्वं च स्नातः कृताहारो विहरस्व स्वलंकृतः ॥
(श्रीमद्भा० १० । ११ । १८-१९)

'अरे श्रीकृष्ण! छिः छिः! देख तेरे समस्त अङ्ग धूलिधूसरित हो रहे हैं। नहीं नहीं! अब मेरे साथ चल शीघ्र स्नान कर ले। और आज तो तेरा जन्म-नक्षत्र है, स्नान आदि करके पवित्र होकर ब्राह्मणोंको गोदान कर। अरे! इधर देख, अभी-अभी यहाँ आये हुए इन गोपशिशुओंकी ओर तो देख! इनकी माताओंने इन्हें स्नान कराया है, भूषणोंसे यथावत् अलङ्कृत किया है। ये कितने सुन्दर लगते हैं। तू भी स्नान कर ले, तथा फिर भूषणोंसे भलीभाँति विभूषित होकर भोजन कर ले। इसके अनन्तर यथेच्छ खेल खेलना।'

इस प्रकार नीलमणिकी जननी बहुत कुछ कह गयीं; किंतु कोई परिणाम न निकला। श्रीकृष्णचन्द्रकी क्रीडा ज्यों-की-त्यों चलती रहती है। अब अन्तिम

उपाय जो सम्भव है, जननी वही करने चलीं, वे अपने नीलमणिके पीछे-पीछे दौड़ने लगती हैं। संयोग-से सुबल उसी ओर दौड़ता हुआ मुड़ता है जिधरसे जननी आ रही हैं। जननी हाथ बढ़ाकर सुबल-को ही पकड़ लेती हैं। उसे पकड़ते ही श्रीकृष्णचन्द्र वहाँ आ पहुँचते हैं तथा सुबलकी पीठपर हँस-हँसकर मुक्की लगाने लगते हैं, नीलमणिको इतना समीप देखकर मैया सुबलको छोड़कर उनकी भुजा पकड़ लेती हैं। अब बलराम अपने-आप ही आकर जननीके कटि-देशसे लिपट जाते हैं। दोनोंके मुखारविन्दपर प्रस्वेद-कण झल-झल कर रहे हैं। जननी अपने आँचलसे क्रमशः दोनोंका मुख पोंछने लगती हैं।

सघन तमालकी छायामें कुछ क्षण विश्रामकर व्रजे-श्वरी राम-श्यामका हाथ पकड़े भवनकी ओर चल पड़ती हैं। कुछ दूर चलनेके अनन्तर श्रीकृष्ण एवं बलराम जननी-के हाथोंसे अपनेको मुक्त कर लेते हैं। मैया बाधा भी नहीं देतीं, अपितु नीलमणिको अत्यन्त मन्द गतिसे चलते देखकर 'जो पहले पहुँचे, वह राजा!' यों कहकर उत्साहित करने लगती हैं—

हौं वारी नान्हे पाइनि की दौरि दिखावहु चाल।
छाँडि देहु तुम लाल अटपटी, यह गति-मंद-मराल॥
सो राजा जो अगमन पहुँचै, सूर सु भवन उताल।
जो जैहैं बलदेव पहिलैं ही, तौ हँसि हैं सब ग्वाल॥

इस भाँति सर्वलोकपूज्य परम महेश्वर स्वयं भगवान् आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्रको लाड़ लड़ाती हुई व्रज-रानी चली जा रही हैं। अपने नीलमणिके अनन्त ऐश्वर्य-की ओर मैयाका ध्यान स्वप्नमें भी नहीं जाता। मैया सदा यही अनुभव करती हैं कि नीलमणि उनके गर्भ-जात पुत्र हैं। विशुद्ध वात्सल्यकी धारा उनके चित्तको निरन्तर सिक्त किये रहती है। इसीका यह परिणाम है—अगणित योगीन्द्र-मुनीन्द्र ध्यानमें क्षणभरके लिये भी जिनका स्पर्श पानेके लिये सदा लालायित रहते हैं, उन आनन्दकन्द व्रजेन्द्रनन्दन श्यामसुन्दर मदनमोहन श्रीकृष्णचन्द्रको वे हाथ पकड़कर लिये जा रही हैं, इच्छानुसार उन्हें मुक्त कर देती हैं और फिर, 'कहीं चञ्चल श्रीकृष्णचन्द्र खेलनेके लिये उपवनकी ओर ही भाग न जायँ; भवन न जायँ' इस भयसे पुनः पकड़ लेती हैं। जो हो, भवन निकट ही है और वे राम-श्यामको लिये आ पहुँचती हैं, आकर उनके स्नान-भोजन आदिकी व्यवस्थामें लगती हैं—

इत्थं यशोदा तमशेषशेखरं
मत्वा सुतं स्नेहनिबद्धधीर्नृप।
हस्ते गृहीत्वा सहराममच्युतं
नीत्वा स्ववाटं कृतवत्यथोदयम्॥
(श्रीमद्भा० १०। ११। २०)

तेल, उबटन, स्नान, अङ्गमार्जन, परिधान, अल-ङ्कारसे सुसज्जित कर व्रजेश्वरी राम-श्यामको व्रजेन्द्रके समीप भोजनालयमें ले जाती हैं। पुत्रोंको आये देखकर उनके स्मितसमन्वित मुखारविन्दके दर्शनमात्रसे अति-शय प्रमुदितचित्त हुए व्रजराज उन्हें अपनी गोदमें बैठा लेते हैं—

उपसन्नयोश्च तयोः प्रमुदितमना मनाक् स्मितपूर्व-मवेक्ष्य वदनं निजमङ्कमारोपयामास व्रजराजः।
(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

श्रीकृष्णचन्द्र भोजन करते हैं—

जेंवत स्याम नंदकी कनिया।
कछुक खात, कछु धरनि गिरावत, छबि निरखति नँदरनियाँ॥
बरी, बरा, बेसन, बहु भाँतिनि, ब्यजंन बिबिध, अगनिया।
डारत, खात, लेत अपनैं कर, रुचि मानत दधि-दोनियाँ॥
मिस्री, दधि, माखन मिस्रित करि, मुख नावत छबि धनिया।
आपुन खात, नंद-मुख नावत, सो छबि कहत न बनिया॥
जो रस नंद-जसोदा बिलसत, सो नहिं तिहूँ भुवनिया।
भोजन करि नँद अचमन लीन्हौ, माँगत सूर जुठनिया॥

यमलार्जुन-पतनके दिनसे श्रीकृष्णचन्द्रकी प्रतिदिन-की दिनचर्या प्रायः यही है। व्रजेश्वरीकी ओरसे श्रीकृष्णचन्द्रको अनुशासनका अब कोई भय नहीं रहा; क्योंकि मैयाने अपने शासनका इतना अनिष्ट परिणाम (वृक्षपतनकी दुर्घटना) देखकर यह निश्चय कर लिया है—'नीलमणिको किसी भी निमित्तसे मैं अब

नहीं डाँटूँगी, यथासम्भव उसे उन्मुक्त क्रीडा करने दूँगी ।' अतः श्रीकृष्णचन्द्र कलेऊ समाप्त होते ही प्रतिदिन यमुनातीरके उपवनमें खेलने चले जाते हैं। परंतु विलम्ब होते ही स्नेहपरवशा जननी ढूँढ़ने भी जाती ही हैं । तथा किसी दिन ढूँढ़नेपर भी श्रीकृष्णचन्द्रको जब नहीं पातीं तो प्रेमातिरेकवश विक्षिप्त-सी होकर उच्च स्वरसे प्रलाप-सा करने लगती हैं । अवश्य ही जननीका यह प्रेमोन्माद आरम्भ होते ही श्रीकृष्णचन्द्रके कानोंमें भी जननीकी पुकार चली ही जाती है, और वे दौड़ते हुए आकर जननीके कण्ठसे लग जाते हैं—

कोउ माई बोलि लेहु गोपालहिं ।
मैं अपने कौ पंथ निहारति, खेलत बेर भई नँदलालहिं ॥
टेरत बड़ी बार भई मोकौं, नहिं पावति घनस्याम तमालहिं ।
सिध जेंवत सिरात, नँद बैठे, ल्यावहु बोलि कान्ह ततकालहिं ॥
भोजन करै नंद सँग मिलि कै, भूख लगी ह्वैहै मेरे बालहिं ।
सूर स्याम-मग जोवति जननी, आइ गए सुनि बचन रसालहिं ॥

मध्याह्नके समय भी प्रतिदिन ही न्यूनाधिक अन्तरसे व्रजेश्वर एवं राम-श्यामके भोजनकी यह अभिनव झाँकी निहार-निहारकर पुरसुन्दरियाँ अपने नेत्र शीतल करती हैं—

धूसर धूरि अंग लपटानै आनि नंद कहि दीन्हैं ।
झारत धूरि सम्हारत अलकैं बदन चूमि तहँ लीन्हैं ॥
उठि-उठि चलत न बैठत लालन, पितु पोछैं पुचकारैं ।
षट-रस निरस लगत तिनकौं सब खेल हियेमें धारैं ॥
सिसु खेलन कौ सोर सुनत प्रभु नजरि बरकि उठि धावैं ।
टेरे नंद प्रीति के बाँधे लगे द्वार लौं आवैं ॥
मिलत जाइ बालक बृन्दनि में जुगल बन्धु अति प्यारे ।
नर-नारिन के लगे रहत मन छिनभर होत न न्यारे ॥
जो परब्रह्म अलख अबिनासी घट-घट ब्यापक जो है ।
निज माया करि सबहिं रमावतु याहि रमावतु को है ॥

किंतु आज मध्याह्न-भोजनके अनन्तर भी व्रजेश्वरी अपने नीलमणिको भवनमें ही रोक रखनेमें सफल हो जाती हैं । मैयाने आँखमिचौनी खेलनेका प्रस्ताव जो कर दिया । इतना ही नहीं, समस्त गृहकार्यको छोड़कर वे स्वयं नीलमणिके नेत्र मूँदनेके लिये प्रस्तुत हुई हैं—

बोलि लेहु हलधर भैया कौं ।
मेरे आगैं खेल करौं कछु, सुख दीजै मैया कौं ॥
मैं मूँदौं हरि आँखि तुम्हारी, बालक रहैं लुकाई ।
हरषि स्याम सब सखा बुलाए खेलन आँखि मुँदाई ॥
हलधर कह्यौ आँखि को मूँदै, हरि कह्यौ मातु जसोदा ।
सूर स्याम लए जननि खिलावति, हरष सहित मन मोदा ॥

आजकी आँखमिचौनीमें प्रथम विजय श्रीकृष्णचन्द्र-को ही प्राप्त होती है—

हरि तब अपनी आँखि मुँदाई ।
सखा सहित बलराम छपाने, जहँ तहँ गए भगाई ॥
कान लागि कह्यौ जननि जसोदा, वा घर मैं बलराम ।
बलदाऊ कौं आवन दैहौं, श्रीदामा सौं काम ॥
दौरि-दौरि बालक सब आवत, छुवत महरि कौ गात ।
सब आए रहे सुबल श्रीदामा, हारे अब कैं तात ॥
सोर पारि हरि सुबलहिं धाए, गह्यौ श्रीदामा जाइ ।
दै-दै सौहैं नंद-बबा की, जननी पै लै आइ ॥
हँसि-हँसि तारी देत सखा सब, भए श्रीदामा चोर ।
सूरदास हँसि कहति जसोदा, जीत्यौ है सुत मोर ॥

व्रजेश्वरीको आज नीलमणिने, रामने, अन्य गोप-शिशुओंने ऐसे-ऐसे नये-नये खेल दिखलाये कि मैया आनन्दमुग्ध हो गयीं । आदिसे अन्ततक निर्णयकर्त्री मैया ही बनीं, और इसीलिये सबमें विजयश्री नीलमणि-को ही मिली । नीलमणि परमानन्दमें निमग्न होकर मैयाके कण्ठमें झूलने लगते हैं । अंशुमाली अस्ताचलमें चले गये तब कहीं इस आनन्दक्रीडाका अवसान हुआ । अब मैया नीलमणिको, रामको एवं अन्य समस्त गोपशिशुओंको ब्यारू कराती हैं । तदनन्तर गोप-सुन्दरियाँ अपने-अपने पुत्रोंको घर ले जाती हैं और श्रीकृष्णचन्द्र आज वहीं प्राङ्गणमें ही निद्रित हो जाते हैं—

आँगन मैं हरि सोइ गये री ।
दोउ जननी मिलि कै हरुएँ करि, सेज सहित तब भवन लये री ॥
नैकुँ नहीं घर मैं बैठत हैं, खेलहिंके अब रंग रये री ।
इहिं बिधि स्याम कबहुँ नहिं सोए, बहुत नींदके बसहिं भये री ॥
कहति रोहिनी सोवन देहु न, खेलत दौरत हारि गये री ।
सूरदास प्रभु कौ मुख निरखत हरषत जिय नित नेह नये री ॥

परमार्थ-पत्रावली

(श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र)

(१)

पत्र मिला । मैं फिर चक्रधरपुर चला गया था, इसलिये जवाब देनेमें विलम्ब हुआ । आपने मिलनेकी तथा मिलनेपर सब बातें पूछनेकी लिखी सो आपके प्रेमकी बात है । चित्तको शान्ति मिलनेका सरलसाध्य उपाय है—अर्थसहित परमेश्वरके नामका जप और अच्छे पुरुषोंका सङ्ग । इन दोनोंको काममें लाना चाहिये ।

संसारसे विरक्ति शान्तिका कारण है । विरक्तिका यह अर्थ नहीं कि गृहस्थको छोड़कर संन्यास ले लेना या वनमें चले जाना । विरक्तिका यह मतलब है कि संसारमें रहकर हो सांसारिक विषय-भोगोंमें आसक्त न होना । संसारमें रहनेसे सांसारिक लोग तो अवश्य राग-द्वेषके झमेलेमें घसीटेंगे; परंतु समझदार मनुष्यको तो राग-द्वेषके वशमें नहीं होना चाहिये; क्योंकि राग-द्वेषके त्यागमें इसकी स्वतन्त्रता है । अतः कटिबद्ध होकर कोशिश करनी चाहिये, इससे सफलता भी प्राप्त होनी सम्भव है ।

सबके साथ सरलतापूर्वक शिष्टताका व्यवहार अवश्यमेव ही करना चाहिये, लोग चाहे उसे निर्बल ही समझें, इसमें कोई हर्ज नहीं । यदि कोई हमें लूटना चाहें तो उन लुटेरोंसे बचकर रहना चाहिये ।

नीच आचरण करनेवाले व्यक्तिसे उपेक्षा करनेमें भी कोई दोष नहीं है; किंतु उससे द्वेष या घृणा नहीं करनी चाहिये । कठोर व्यवहार करनेमें उसका हित हो तो कठोर व्यवहार करना भी नीति है ।

संसारके कार्यको झंझट समझकर उससे अलग होनेकी आवश्यकता नहीं है। संसारमें रहते हुए सांसारिक कामको करते रहना चाहिये; किंतु राग-द्वेषमें फँसकर उसमें लिप्त नहीं होना चाहिये । भगवान् कहते हैं—

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥
इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥

(गीता ३ । ३३-३४)

'सभी प्राणी प्रकृतिको प्राप्त होते हैं अर्थात् अपने स्वभावके परवश हुए कर्म करते हैं । ज्ञानवान् भी अपनी प्रकृतिके अनुसार चेष्टा करता है । फिर इसमें किसीका हठ क्या करेगा ? इन्द्रिय-इन्द्रियके अर्थमें अर्थात् प्रत्येक इन्द्रियके विषयमें राग और द्वेष छिपे हुए स्थित हैं । मनुष्यको उन दोनोंके वशमें नहीं होना चाहिये; क्योंकि वे दोनों ही इसके कल्याणमार्गमें विघ्न करनेवाले महान् शत्रु हैं ।'

परमात्माको याद रखते हुए फल और आसक्तिको त्यागकर सबके हितके लिये सबके साथ प्रेमपूर्वक व्यवहार करना चाहिये । ऐसा करनेसे अन्तःकरण पवित्र होता है और शान्ति मिलती है । इस प्रकारके अभ्यासकी वृद्धि होनेसे चित्तकी वृत्तियाँ शान्त होकर परमानन्दस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है । दृढ़ अभ्यास और तीव्र वैराग्य रहनेसे बुरे साथियोंके सङ्गका भी बुरा प्रभाव नहीं पड़ सकता ।

इस घोर कलिकालमें भजन, सत्संग और भगवान्‌की दयाके अनुभवके समान कोई सरल उपाय नहीं है । अतएव अच्छे पुरुषोंका सङ्ग करनेकी चेष्टा करनी चाहिये । उनका सङ्ग न मिलनेपर सत्-शास्त्रोंका अभ्यास करनेकी चेष्टा करनी चाहिये और ईश्वरके नामको निरन्तर याद रखते हुए स्वार्थको त्यागकर सब भूतोंके हितकी चेष्टा करनी चाहिये ।

(२)

पत्र आपका मिला । समाचार ज्ञात हुए । बम्बईमें

मिलनेसे आपकी हमारे पास रहनेकी इच्छा लिखी सो आपकी दयाकी बात है। भजन न होनेसे चित्तमें अशान्ति रहती है। सो चित्त लगाकर भजन करना चाहिये। आपको भजन करनेके लिये प्रातःकाल और सायङ्काल समय देनेके लिये·······को लिख दिया जाता है।

आपने लिखा कि यहाँ सत्संग नहीं है सो काशीजी तीर्थस्थान है, चेष्टा करनेसे वहाँ सत्संग मिल सकता है। ············भाईके कारण आपको सत्संगका लाभ बहुत होता था सो ठीक है। शरीर ठीक न रहनेके कारण आप उनसे अधिक लाभ न उठा सके सो शरीर ठीक न रहना दैवाधीन बात है।

एकान्तमें बैठकर भजन करना या निरन्तर काम करते हुए भजन करना एक ही बात है। गीता अध्याय ८ श्लोक ७* की तरह काम करते हुए भी भजन करना चाहिये तथा नित्यप्रति एकान्तमें भी भजनके लिये समय अवश्य निकालना चाहिये। गोरखपुरमें रहना हो तो सब लोग जैसे प्रेसके काममें समय देते हैं, वैसे ही आपको भी देना चाहिये, नहीं तो दूसरे आदमियोंपर बुरा असर पड़ेगा। लोग समझेंगे कि भगवान्‌को याद रखते हुए भगवान्‌का काम करनेकी अपेक्षा भी काम छोड़कर एकान्तमें भजन करना उत्तम है। यद्यपि एकान्तमें बैठकर भजन करना उत्तम है, परंतु उसमें भी आलस्य और स्फुरणाका डर तो बना ही रहता है। जब हम भजन करते हुए भगवान्‌का काम करते हैं तब वह काम भजनसे कम कैसे हो सकता है!

---

*तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥

'इसलिये हे अर्जुन! तू सब समयमें निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर। इस प्रकार मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त होकर तू निःसन्देह मुझको ही प्राप्त होगा।'

(३)

आपका कृपापत्र मिला। स्वास्थ्य ठीक न रहने तथा कार्यकी अधिकताके कारण उत्तर समयपर नहीं दिया जा सका, इसके लिये क्षमा चाहता हूँ।

आपको जो इस बातका पछतावा है कि आपने अपनी आयुके ५४ वर्ष यों ही व्यतीत कर दिये सो ठीक है, किंतु असली पछतावा वही है कि यह ज्ञान हो जानेके बाद अपनी आयुका शेष भाग अपने विचारे हुए ध्येयके अनुसार साधनमें ही व्यतीत किया जाय।

अब, भगवत्सम्बन्धी विषयमें कुछ लिखा जाता है। ईश्वर-साक्षात्कारके लिये सर्वोत्तम एवं सुगम उपाय ईश्वरकी अनन्य भक्ति यानी शरणागति है। इसके लिये सत्पुरुषोंका सङ्ग और सत्-शास्त्रोंका अध्ययन अत्यन्त लाभदायक और आवश्यक है। ईश्वरकी अनन्य भक्ति अथवा अनन्य शरणागतिका स्वरूप यदि विस्तारसे जानना हो तो आप गीताप्रेससे प्रकाशित 'तत्त्व-चिन्तामणि प्रथम भाग' देख सकते हैं और यदि आपका ऋषिकेश आना हो तो वहाँ प्रत्यक्षमें भी इस विषयमें पूछ सकते हैं। इस समय पत्रमें तो सूत्ररूपसे कुछ निवेदन किया जाता है।

भगवान्‌ने गीताके ११वें अध्यायके ५४-५५वें श्लोकोंमें अपनी प्राप्तिका उपाय इस प्रकार बतलाया है—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥
मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥

'हे परंतप अर्जुन! अनन्य भक्तिके द्वारा इस प्रकार मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये, तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूँ। हे अर्जुन! जो पुरुष केवल मेरे ही लिये सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको करनेवाला है, मेरे परायण है, मेरा भक्त है, आसक्तिरहित है और सम्पूर्ण भूतप्राणियों-

में वैरभावसे रहित है, वह अनन्यभक्तियुक्त पुरुष मुझको ही प्राप्त होता है ।'

जो मनुष्य भगवान्‌के कथनानुसार केवल भगवान्‌के ही लिये सब कुछ भगवान्‌का समझता हुआ यज्ञ, दान, तप आदि सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको करता है, भगवान्‌को ही परम आश्रय और परम गति मानकर भगवान्‌की प्राप्तिके लिये तत्पर रहता है तथा भगवान्‌के नाम, गुण, प्रभाव और रहस्यके श्रवण, कीर्तन, पठन-पाठन, मनन और ध्यानका प्रेमसहित निष्कामभावसे अभ्यास करता है, वह स्वार्थ, ममता और आसक्तिसे रहित तथा सम्पूर्ण प्राणियोंमें वैरभावसे शून्य अनन्यभक्तिवाला पुरुष भगवान्‌को प्राप्त हो जाता है । इस प्रकार भगवान्‌की अनन्य भक्तिका अभ्यास करना चाहिये । यदि ऊपर बतलायी हुई बातें न हो सकें तो भगवान्‌की निम्न-लिखित आज्ञाका पालन करनेसे भी भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है । भगवान् कहते हैं—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥
(गीता ९ । ३४)

'मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो, मुझको प्रणाम कर । इस प्रकार आत्मा-को मुझमें नियुक्त करके मेरे परायण होकर तू मुझको ही प्राप्त होगा ।'

अभिप्राय यह है कि केवल उन सच्चिदानन्दघन परमेश्वरमें ही अनन्यप्रेमपूर्वक नित्य-निरन्तर अचलरूपसे मनको लगावे और उनके नाम, गुण और प्रभावके श्रवण, कीर्तन, मनन और पठन-पाठनद्वारा श्रद्धा-प्रेम-सहित निष्कामभावसे निरन्तर उन परमेश्वरको ही भजे तथा मन, वाणी और शरीरके द्वारा सर्वस्व उनके अर्पण करके अतिशय श्रद्धा, भक्ति और प्रेमसे विह्वलतापूर्वक उनका पूजन करे और उन सर्वशक्तिमान्, सम्पूर्ण विभूति, बल, ऐश्वर्य, माधुर्य, गम्भीरता, उदारता, वत्सलता और सुहृद्‌ता आदि अनन्त गुणोंसे सम्पन्न सबके आश्रय उन वासुदेवको विनयभावपूर्वक भक्तिसहित साष्टाङ्ग दण्डवत्-प्रणाम करे । इस प्रकार करनेसे भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है ।

यदि यह भी न हो सके तो केवल ईश्वरके नामका जप और उनके स्वरूपका ध्यान निष्काम प्रेमभावसे निरन्तर करनेसे भी परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है । यदि और कुछ भी न बन पड़े तो भगवान्‌के अनन्य चिन्तनसे भी भगवान्‌की प्राप्ति सुगमतासे हो सकती है । भगवान्‌ने कहा भी है—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥
(गीता ८ । १४)

'हे अर्जुन ! जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्त होकर सदा ही निरन्तर मुझ पुरुषोत्तमको स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ, अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ ।'

आपने लिखा था कि हमारे लायक सेवा लिखनी चाहिये सो ठीक है । हर समय भगवान्‌को याद रखते हुए उसकी आज्ञाके अनुसार उसीके लिये काम करनेका अभ्यास करना चाहिये । और पहले आपने लिखा था कि भगवान्‌को याद रखते हुए विवाहका काम होना चाहिये, भगवान् सर्वशक्तिमान् हैं, वे सब कुछ कर सकते हैं—सो ठीक है । केवल विवाहका ही काम नहीं, सभी काम उसको याद रखते हुए ही करने चाहिये । भगवान्‌की दयासे सब कुछ हो सकता है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं । केवल भगवान्‌पर विश्वास होना चाहिये, क्योंकि इसमें श्रद्धाकी प्रधानता है ।

आपने लिखा कि सब कुछ भगवान्‌का ही काम है, श्रीभगवान् ही करा रहे हैं—ऐसी बुद्धि हो जाय सो ठीक है । इसके लिये श्रीभगवान्‌की शरण होना चाहिये । शरण होनेपर ऐसा हो सकता है । इसके

लिये उनसे प्रार्थना करनी चाहिये। श्रीभगवान्‌पर विश्वास करके साधनकी चेष्टा रखनी चाहिये।

गीताके १५वें अध्यायके १५वें श्लोककी* बात लिखी, सो ठीक है, इसमें श्रद्धा होनी चाहिये; फिर सारी बात स्वतः ही ठीक हो सकती है। श्लोकमें लिखी हुई बात एकदम ठीक है। हृदय पवित्र हो और श्रद्धालु मनुष्यका सङ्ग किया जाय तो भगवान्‌में श्रद्धा हो सकती है।

आपने अपने लिये तथा अपने पिताजीके लिये उपयोगी बातें लिखनेको लिखा सो ठीक है; हर समय परमेश्वरके नामकी स्मृति तथा उनके स्वरूपका ध्यान रखना चाहिये। इस प्रकार ध्यान रखते हुए ही काम करना चाहिये। आपके लिये सबसे उत्तम यही बात है एवं आपके पिताजीको भी शरीरसे काम, मनसे परमेश्वरके स्वरूपका ध्यान और जिह्वासे भगवान्‌के नामका जप करना उचित है।

आलस्य, प्रमाद और भोगोंको पापके समान समझकर त्याग देना चाहिये। तथा त्रुटियोंके लिये पासमें रहनेवाले पुरुषोंसे बार-बार पूछना चाहिये और उन लोगोंके द्वारा बतलायी हुई भूलोंको सुधारनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

प्रभुकी शरण लेनेपर अकर्मण्यता मिटकर मनुष्यका उद्धार होता है। उत्साहपूर्वक परमेश्वरकी आज्ञाका पालन और परमेश्वरके स्वरूपके चिन्तन करनेका नाम ही प्रभुकी शरण लेना है।

(४)

आपका पत्र मिला।××××। अलग बैठनेके समय कामोंका ही चिन्तन होना लिखा सो काम करते समय मुख्यवृत्तिसे परमेश्वरके स्वरूपका ध्यान और गौणी वृत्तिसे सांसारिक काम करना चाहिये, ऐसा करनेसे मन परमेश्वरमें लग सकता है तथा ईश्वरके चिन्तनमें त्रुटि ही असली हानि है, ऐसा समझकर निरन्तर चिन्तनका प्रयत्न करना चाहिये।

आपने लिखा कि मेरी त्रुटियाँ ध्यानमें आवें सो लिखनी चाहिये सो ठीक है। साधनके सम्बन्धमें तो यह त्रुटि प्रत्यक्ष ही है, जो कि हर समय प्रभुका चिन्तन नहीं होता।

आपने अपने लिये उपयोगी बातें लिखनेको लिखा सो ठीक है। गीताके १६वें अध्यायके १, २, ३ श्लोकमें बतलाये हुए गुणोंको धारण करना चाहिये। भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत॥

'भयका सर्वथा अभाव, अन्तःकरणकी पूर्ण निर्मलता, तत्त्वज्ञानके लिये ध्यानयोगमें निरन्तर दृढ़ स्थिति और सात्त्विक दान, इन्द्रियोंका दमन, भगवान्, देवता और गुरुजनोंकी पूजा तथा अग्निहोत्र आदि उत्तम कर्मोंका आचरण एवं वेद-शास्त्रोंका पठन-पाठन तथा भगवान्‌के नाम और गुणोंका कीर्तन, स्वधर्मपालनके लिये कष्टसहन और शरीर तथा इन्द्रियोंके सहित अन्तःकरणकी सरलता, मन, वाणी और शरीरसे किसी प्रकार भी किसीको कष्ट न देना, यथार्थ और प्रिय भाषण, अपना अपकार करनेवालेपर भी क्रोधका न होना, कर्मोंमें कर्तापनके

---

* सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्॥

'मैं ही सब प्राणियोंके हृदयमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित हूँ तथा मुझसे ही स्मृति, ज्ञान और अपोहन होता है (संशय, विपर्यय आदि वितर्क-जालके दूर होनेका नाम 'अपोहन' है।) और सब वेदोंके द्वारा मैं ही जाननेके योग्य हूँ तथा वेदान्तका कर्ता और वेदोंको जाननेवाला भी मैं ही हूँ।'

अभिमानका त्याग, अन्तःकरणकी उपरति अर्थात् चित्तकी चञ्चलताका अभाव, किसीकी भी निन्दादि न करना, सब भूतप्राणियोंमें हेतुरहित दया, इन्द्रियोंका विषयोंके साथ संयोग होनेपर भी उनमें आसक्तिका न होना, कोमलता, लोक और शास्त्रसे विरुद्ध आचरणमें लज्जा और व्यर्थ चेष्टाओंका अभाव, तेज, क्षमा, धैर्य, बाहरकी शुद्धि एवं किसीमें भी शत्रुभावका न होना और अपनेमें पूज्यताके अभिमानका अभाव—ये सब हे अर्जुन ! दैवी सम्पदाको लेकर उत्पन्न हुए पुरुषके लक्षण हैं ।'

इस प्रकार भगवान्‌के द्वारा बतलाये हुए दैवी सम्पदाके लक्षणोंको धारण करना चाहिये तथा आगे ४ थे श्लोकसे अध्यायके समाप्तिपर्यन्त बतलाये हुए अवगुणोंका त्याग करना चाहिये । अभिप्राय यह कि उत्तम गुण और उत्तम आचरणोंका सेवन तथा बुरे गुण और बुरे आचरणोंका त्याग करना चाहिये । इस प्रकार करनेसे सब अवगुणोंका नाश हो सकता है । इतना न बन पड़े तो परमेश्वरके नामका जप और उसके आज्ञानुसार काम करना चाहिये ।

तुम्हारे प्रेमके अनुसार मैं तो समयपर पत्र भी नहीं दे पाता हूँ, फिर भी तुम मेरी भूलकी तरफ खयाल नहीं करते ।

(५)

हर समय श्रीभगवान्‌को याद रखना चाहिये । काम करते समय हरेक काममें स्वार्थ और आसक्तिका त्याग करके 'सर्वत्र श्रीभगवान् हैं'—ऐसा निश्चय रखते हुए उनके प्रेममें मग्न होकर उन्हींका काम समझकर करना तथा जो कुछ हो, उसमें उनका हाथ समझकर आनन्द मानना चाहिये । सारा संसार श्रीभगवान्‌की फुलवाड़ी है, भगवान् इस संसाररूपी बगीचेके चतुर माली हैं; कभी किसी पौधेको उखाड़ते हैं और किसीको लगाते हैं, जो इस बातके रहस्यको नहीं जानते, वे ही दुखी-सुखी होते हैं । हमें इस रहस्यको समझकर हर समय उनकी लीलाको देखते हुए आनन्द मानना चाहिये ।

मनुष्यको अपनी समझके अनुसार सावधानीसे कोशिश करनी चाहिये । फिर उसका जो परिणाम हो, उसीमें आनन्द मानना चाहिये । कोई भी काम हो, धीरजके साथ करना चाहिये, जल्दी नहीं करनी चाहिये ।

(६)

भजन-ध्यानका साधन तेज करनेके लिये विशेष कोशिश करनी चाहिये । मनुष्यका जन्म दुर्लभ है । समयका कोई भरोसा है नहीं । प्राण जानेके पूर्व ही अपना उद्धार कर लेनेका प्रयत्न करना ही बुद्धिमत्ता है, नहीं तो पीछे पछतानेसे कोई लाभ नहीं होगा । काम, भोग, पाप, आलस्य और प्रमादको मृत्युके समान समझकर इनका सर्वथा त्याग करनेकी चेष्टा करनी चाहिये ।

भगवान्‌से यही प्रार्थना करे कि 'हे प्रभो ! हमारा मन दूसरी जगह कहीं न जाय । शरीर कहीं भी रहे, कोई बात नहीं, पर आपका भजन-ध्यान निरन्तर होता रहे । फिर नया पाप तो होगा नहीं, पुराने पाप हैं, उन्हें चाहे जैसे भुगतावें, कोई चिन्ता नहीं । हम तो यही चाहते हैं कि आपका ध्यान बना रहे । ध्यान बना रहेगा तो पापोंका स्वतः ही नाश हो जायगा । पापनाशकी प्रार्थनाकी क्या जरूरत है ? केवल एक ही बातकी प्रार्थना है—चाहे सो हो, आपके भजन-ध्यानमें कभी विघ्न न हो ।' जो प्रभुके सिवा और कुछ नहीं चाहता, वही एकनिष्ठ भक्त है । भक्त प्रह्लादने यही कहा कि किसी प्रकारकी इच्छा हो तो उसका नाश हो जाय । प्रभुसे कुछ माँगना नहीं चाहिये । माँगे तो एक ही बात कि 'हम जीवन-मरण, सांसारिक सुख-दुःख कुछ भी नहीं चाहते । पापोंके नाशके लिये भी चिन्ता नहीं । हमारे तो हर समय आपका चिन्तन होता रहे, प्रभुके चिन्तनके सिवा हमें और कुछ नहीं चाहिये ।'

सनातनधर्ममें सत्यका समुचित स्थान

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

'सत्य' भगवान्‌का ही स्वरूप है, इसमें रञ्चमात्र भी सन्देह नहीं। गीता कहती है—

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
(१७। २३)

अर्थात् 'ॐ, तत् और सत्—ये तीन भगवान्‌के नाम हैं।' उपनिषदें कहती हैं—

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।' (तैत्ति० २। १। १)

'सत्यं ब्रह्म।' (बृह० ५। ५। १)

अर्थात् 'सत्य ब्रह्म है।' महाभारतका कहना है कि—

'राजन् सत्यं परं ब्रह्म।' (आदिपर्व ७५। १०६)

विष्णुसहस्रनाममें—

'सत्यः सत्यपराक्रमः।' (३६)

ये भी दो नाम हैं। भागवतका कहना है कि भगवान् सत्यव्रत, सत्यपरायण, त्रिकालसत्य और सत्यके उत्पत्ति-स्थान हैं—

सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं
सत्यस्य योनिं निहितं च सत्ये।
सत्यस्य सत्यमृतसत्यनेत्रं
सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नाः॥
(१०। २। २६)

लोकमें भी प्रसिद्धि है कि—

जाके हिरदय साँच है ताके हिरदय आप॥

सत्यकी महिमासे हमारे शास्त्र भरे पड़े हैं। मनुका कहना है कि सदा सत्य बोलना चाहिये, प्रिय बोलना चाहिये, किंतु ऐसा सत्य न बोला जाय जो अप्रिय हो। असत्यमिश्र प्रिय भी न बोले। यही सनातन धर्म है—

सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः॥
(मनु० ४। १३८)

आगे चलकर वे ही एक जगह कहते हैं कि जो विद्वान् निःशङ्क होकर केवल सत्य ही कहता है, देवतालोग उससे बढ़कर संसारमें किसीको भी नहीं जानते—

यस्य विद्वान् हि वदतः क्षेत्रज्ञो नाभिशङ्कते।
तस्मान्न देवाः श्रेयांसो लोकेऽन्यं पुरुषं विदुः॥
(८। ९६)

इसी बातको ध्यानमें रखकर मालूम होता है गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने कहा है—

सत्य मूल सब सुकृत सुहाए। बेद पुरान बिदित मनु गाए॥

मनुने तो अवश्य लिखा, पर वेद-पुराणोंमें भी क्या यह बात यों ही है—यह शङ्का स्वाभाविक है। यही नहीं, गोस्वामीजी महाराज एक और जगह भी लिखते हैं—

धर्म न दूसर सत्य समाना। आगम निगम पुरान बखाना॥
नहिं असत्य सम पातक पुंजा। गिरि सम होहिं कि कोटिक गुंजा॥

—इत्यादि। इसपर यह जिज्ञासा होनी स्वाभाविक है कि वेद-पुराणोंमें सचमुच सत्यका कैसा वर्णन है।

गोस्वामीजी तो कोई झूठे व्यक्ति थे नहीं कि विना आगे-पीछे सोचे-समझे ही ये चौपाइयाँ रगड़ मारी हों। पाठक देखें कि सत्यकी महिमा वेदों और पुराणोंमें किस प्रकार भरी पड़ी है। 'ऋग्वेद' कहता है कि ज्ञानवान् मनुष्य इस बातको अच्छी तरह जानता है कि असत्य और सत्य परस्पर स्पर्धा करते हैं। दोनोंमें सत्य ही आसान है, इसके अतिरिक्त भगवान् सर्वदा सत्यकी रक्षा तथा असत्यका दमन करते हैं—

'सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते।
तयोर्यत्सत्यं यतरदृजीयस्तदित्सोमोऽवति हन्त्यासत्।'
(ऋ० सं० अष्ट० ७, मण्ड० १०४ सू० १२)

यजुर्वेद कहता है—

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत्सत्यानृते प्रजापतिः।
अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धां सत्ये प्रजापतिः॥
(शु० य० सं० कां० १९, कं० ७७)

इसपर उव्वट लिखते हैं—

'दृष्ट्वा—उपलभ्य, रूपे सत्यानृतयोः। इदं सत्यम्, एवं रूपमिदम् अनृतम्, इति व्याकरोत्। व्याकरणम्—पृथक् कार्यावस्थानम्। कथं व्याकरोत्? अश्रद्धामनृते अदधात्, अनृतं निमित्तत्वात् अश्रद्धायाः। श्रद्धामास्तिक्यं सत्ये। कः अदधात्? प्रजापतिः।' (उव्वटभाष्य)

अर्थात् प्रजापतिने सत्य और झूठको पूरी तरह देख-भाल कर दोनोंको अलग-अलग कर दिया। उन्होंने फिर मनुष्योंके हृदयमें सत्यके लिये श्रद्धा एवं असत्यके लिये अश्रद्धा प्रकट कर दी। इसी प्रकार 'अथर्ववेद'की श्रुति कहती है कि वरुण!

तुम्हारी तीनों प्रकारकी सात-सात फाँसें मिथ्या भाषण करनेवालोंको ही बाँधें। सत्य बोलनेवालेकी वे सभी पाशें कट जायँ। और जो सर्वथा असत्य बोलते हों वे तो तुम्हारी सैकड़ों पाशोंसे बाँधे जायँ और कभी न छूटें—

'ये ते पाशा वरुण सप्त सप्त
त्रेधा तिष्ठन्ति विषिता रुशन्तः।
छिनन्तु सर्वे अनृतं वदन्तं
यः सत्य वाद्यति तं सृजन्तु॥
शतेन पाशैरभिधेहि वरुणैनं
मा ते मोच्यनृत वाङ् नृचक्षः।'
(अथर्व० कां० ४, सूक्त १६, मन्त्र ६, ७)

इसका उपबृंहण इतिहास-पुराणोंने इन शब्दोंमें किया है, यथा—

ये तु सभ्याः सदा ज्ञात्वा तूष्णीं ध्यायन्त आसते।
यथा प्राप्तं न ब्रुवते ते सर्वेऽनृतवादिनः॥
जानन्नवाब्रवीत्प्रश्नान् कामात्क्रोधाद्भयात्तथा।
सहस्रं वारुणान् पाशानात्मनि प्रतिमुञ्चति॥
तेषां संवत्सरे पूर्णे पाश एकः प्रमुच्यते।
तस्मात्सत्येन वक्तव्यं जानता सत्यमञ्जसा॥
(वाल्मी० रामा० उत्तर० सर्ग ६० के बादका प्र० स० ३ श्लो० ३४—३६, महा० सभा० पर्व ६८। ७४—७६)

उपनिषदोंमें आता है कि प्रजापतिके पुत्र आरुणि सुपर्णेयने अपने पिताके पास जाकर पूछा कि हे भगवन्! सबसे श्रेष्ठ कौन-सी वस्तु है? प्रजापतिने कहा कि पुत्र! सत्यसे ही यह हवा चलती है, सत्यके बलपर ही सूर्य आकाशमें प्रकाशित होते हैं, सत्यमें ही वाणीकी प्रतिष्ठा है, सभी सत्यके ही बलपर टिके हैं। इसलिये सत्यको ही सर्वोत्तम कहा जाता है—

'सत्येन वायुरावाति, सत्येनादित्यो रोचते दिवि, सत्यं वाचः प्रतिष्ठा, सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितं तस्मात्सत्यं परमं वदन्ति।'
(नारायणोपनिषद् ७९। १, तैत्तिरीयारण्यक)

इसका उपबृंहण पाठक आगे चलकर अनेक स्थलोंपर इतिहास-पुराणोंके उदाहरणमें देखेंगे। मुण्डकोपनिषद् कहती है कि सत्यकी ही विजय होती है, झूठकी नहीं, क्योंकि वह देवयाननामक मार्ग, जिससे पूर्णकाम, परम निष्काम, आत्माराम ऋषिलोग जाते हैं, सत्यसे ही परिपूर्ण है—वह परब्रह्म परमात्माका धाम परम सत्यस्वरूप ही है—

'सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः।
येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम्॥
(मुण्डकोपनिषद् ३। १। ६)

यह श्रुति स्वल्प पाठ-भेदसे अन्यत्र भी कितने ही स्थलोंपर मिलती है। बृहदारण्यक उपनिषद्का कहना है कि सत्य ही परमेश्वर है। इसी सत्यरूपी परमेश्वरने प्रजापतिको और प्रजापतिने देवताओंको उत्पन्न किया। इसलिये देवगण सत्यकी ही उपासना करते हैं—

'सत्यं ब्रह्म, ब्रह्म प्रजापतिं, प्रजापतिर्देवांस्ते देवाः सत्यमेवोपासते।'
(बृहदा० ५। ५। १)

यही उपनिषद् एक दूसरे स्थानपर कहती है कि धर्म निश्चयेन सत्यस्वरूप है। इसीसे सत्य बोलनेवालेको कहा जाता है कि 'यह धर्म भाषण कर रहा है'—

'स धर्मं सत्यं वैतत्। तस्मात्सत्यं वदन्तमाहुर्धर्मं वदतीति, धर्मं वा वदन्तं सत्यं वदतीत्येतद्ध्येवैतदुभयं भवति।'
(बृहदा० १। ४। १४)

प्रायेण प्रत्येक उपनिषद्में ही 'सत्यं वद' 'सत्यान्न प्रमदितव्यम्'का उपदेश भरा दीखता है। क्यों न हो, तभी तो उपनिषदोंका महत्त्व सारा संसार स्वीकार करता है।

इसी प्रकार 'पारस्करगृह्यसूत्र' स्नातकके नियमोंका विधान करता हुआ लिखता है कि स्नातक सर्वदा सत्य बोले, मिथ्या भाषण न करे—

'सत्यवदनमेव वा।'
(पार० गृह्य० कां० २, कण्डि ८ सूत्र ९)

'वशिष्ठधर्मसूत्र' मिथ्या भाषणकी निन्दा करता हुआ कहता है कि कन्याके विषयमें असत्य कहनेसे पाँच बान्धवोंका, गौके विषयमें असत्य कहनेसे दस बान्धवोंका, घोड़ेके विषयमें असत्य बोलनेसे सौ बान्धवोंका तथा मनुष्यके विषयमें झूठ बोलनेसे हजारों बान्धवोंके वध करनेका पाप लगता है—

पञ्च कन्यानृते हन्ति दश हन्ति गवानृते।
शतमश्वानृते हन्ति सहस्रं पुरुषानृते॥
(वशिष्ठधर्मसूत्र १६। २९)

ठीक यही बात गौतम और बौधायनने भी कही है। (देखिये बौधायनधर्मसूत्र १। १२। २६, गौतमधर्मसूत्र १३। १०—१७)। ऐसे ही योगसूत्रकार लिखते हैं कि सदा सत्य बोलनेवालेके शाप और वरदान भी सत्य ही होते हैं—

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्।
(पातञ्जलयोगदर्शन साधनपाद सूत्र ३६)

इस तरह हम देखते हैं कि न केवल वेदोंने ही प्रत्युत सभी वैदिक ग्रन्थ—कल्पसूत्रोंमें ही सत्यकी सर्वोत्तमताप्रतिपादक वचन ढेर-के-ढेर मिलते हैं। यह तो हुई वेदोंकी बात, पर इतिहास-पुराणोंकी इस विषयमें कैसी सम्मति है, उनका विवेचन कैसा दिव्य, रोचक और आकर्षक है, यह विषय अगले प्रकरणमें नीचे देखिये।

(२)

इतिहास-पुराणोंमें इस विषयपर बड़े-बड़े विवेचन चले हैं। तफसीलमें जानेपर तो अपने इतिहासोंका मूलाधार सत्य ही दीखता है। 'रामायण' हमारा आदिकाव्य होते हुए भी प्राचीनतम इतिहासका ग्रन्थ समझा जाता है। इसमें हम देखते हैं कि महाराज दशरथ कैकेयीको दो वरदान देते हैं, और अपनी उस प्रतिज्ञाके पालनेमें अपने प्राणोंके साथ-साथ प्राणोंसे भी प्रिय पुत्र श्रीरामचन्द्रका परित्याग कर देते हैं। इधर श्रीरामचन्द्र भी सत्यकी रक्षाके लिये वन जाते हैं, बस, यही 'रामायण' की आधारभित्ति है। जब भरत, वामदेव और जाबालिने श्रीरामचन्द्रजीको अयोध्या लौट चलनेके लिये कई प्रकारसे आग्रह किया तब उन्होंने जो अपना मन्तव्य प्रकट किया वह कितना मार्मिक है यह देखते ही बनता है। आप कहते हैं कि सत्यका पालन ही राजाओंका दयाप्रधान धर्म है—सनातन आचार है, अतः राजा सत्यस्वरूप है। सत्यमें ही सम्पूर्ण जगत् प्रतिष्ठित है। ऋषियों और देवताओंने सत्यका ही आदर किया है। इस लोकमें सत्यभाषण करनेवाला मनुष्य सर्वोत्तम—अक्षय लोक ब्रह्मधामको प्राप्त होता है। झूठ बोलनेवाले मनुष्यसे सभी लोग वैसे ही डरते हैं, जैसे साँपसे। संसारमें सत्य ही धर्मकी पराकाष्ठा है, वही सबका मूल कहा गया है। जगत्में सत्य ही ईश्वर है। सत्यहीके आधारपर धर्मकी स्थिति है। सत्य ही सबकी जड़ है, सत्यसे बढ़कर कोई दूसरी उत्तम गति नहीं। दान, यज्ञ, होम, तप और वेद—इन सबोंका आश्रय सत्य ही है। इसलिये सबको सत्यपरायण होना चाहिये—

सत्यमेवानृशंसं च राजवृत्तं सनातनम्।
तस्मात्सत्यात्मकं राज्यं सत्ये लोके प्रतिष्ठितः॥
ऋषयश्चैव देवाश्च सत्यमेव हि मेनिरे।
सत्यवादी हि लोकेऽस्मिन् परं गच्छति चाव्ययम्॥
उद्विजन्ते यथा सर्पान्नरादनृतवादिनः।
धर्मः सत्यपरो लोके मूलं सर्वस्य चोच्यते॥
सत्यमेवेश्वरो लोके सत्ये धर्मः सदाश्रितः।
सत्यमूलानि सर्वाणि सत्यान्नास्ति परं पदम्॥
दत्तमिष्टं हुतं चैव तप्तानि च तपांसि च।
वेदाः सत्यप्रतिष्ठानास्तस्मात्सत्यपरो भवेत्॥
(वाल्मीकि० अयो० १०९। १०—१४)

हमारे दूसरे इतिहास 'महाभारत' की भी ठीक यही दशा है। महाराज युधिष्ठिर सत्यपाशसे ही बँधकर तेरह वर्ष वनवासका कष्ट झेलते हैं और यही सम्पूर्ण महाभारतकी आधारभित्ति बनती है। जिस तरह सत्य-धर्मपरायण श्रीरामचन्द्रजीकी सर्वत्र विजय होती है, उसी प्रकार युधिष्ठिर भी असत्यभाषी दुर्योधनकी ग्यारह अक्षौहिणी सेनाको मसल डालते हैं। सत्यकी प्रशंसासे तो महाभारत भरा पड़ा है। आदिपर्वमें दुष्यन्तके द्वारा अस्वीकृत होनेपर शकुन्तला कहती है—'राजन्! कपट न करो। सत्य हजारों अश्वमेधोंसे भी श्रेष्ठ है। सारे वेदोंको पढ़ ले, सारे तीर्थोंमें स्नान कर ले, फिर भी सत्य उनसे बढ़कर है। सत्यसे बढ़कर दूसरा धर्म भी नहीं है। सत्यसे बढ़कर कुछ है ही नहीं। झूठसे बढ़कर निन्दनीय भी कुछ नहीं। सत्य स्वयं परब्रह्म परमात्मा है—

अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम्।
अश्वमेधसहस्रेभ्यः सत्यमेव विशिष्यते॥
सर्ववेदाधिगमनं सर्वतीर्थावगाहनम्।
सत्यं च वचनं राजन् समं वा स्यान्न वा समम्॥
नास्ति सत्यसमो धर्मो न सत्याद्विद्यते परम्।
न हि तीव्रतरं किञ्चिदनृतादिह विद्यते॥
(महा० आदिपर्व० ७४। १०३—१०५)

शान्तिपर्वका १६२ वाँ अध्याय सम्पूर्ण ही सत्यकी महिमासे भरा पड़ा है, और अध्यायके अन्तमें भीष्मपितामहने कहा है कि राजन्! सत्यके गुण कहे नहीं जा सकते। यही कारण है कि सभी देवता, पितर, ऋषि और ब्राह्मण सदा सत्यकी प्रशंसा करते हैं। न तो सत्यसे बढ़कर कोई धर्म है और न झूठसे बढ़कर कोई पाप। सत्यसे दानका, दक्षिणाओंसहित यज्ञका, त्रिविध अग्नियोंमें हवनका और वेदोंके भी स्वाध्यायका फल मिल जाता है। यदि एक ओर हजार अश्वमेध यज्ञोंका और दूसरी ओर सत्यका फल तराजूपर रखकर तौला जाय तो एक हजार अश्वमेध-यज्ञोंकी अपेक्षा सत्यका ही फल अधिक होगा—

नान्तः शक्यो गुणानां च वक्तुं सत्यस्य पार्थिव।
अतः सत्यं प्रशंसन्ति विप्राः सपितृदेवताः॥

नास्ति सत्यात्परो धर्मो नानृतात्पातकं परम् ।
उपैति सत्याद्दानं हि तथा यज्ञाः सदक्षिणाः ॥
त्रेताग्निहोत्रं वेदाश्च ये चान्ये धर्मनिश्चयाः ।
अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम् ।
अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते ॥

(महा० शान्ति० आपद्धर्मपर्व १६२ । २३–२६)

अनुशासनपर्वमें सभी प्रकारके धर्मोंका उपसंहार करते हुए भी ये ही बातें कही गयी हैं और फिर इसके आगे कहा गया है कि सत्यके प्रभावसे सूर्य तपते हैं, सत्यसे अग्नि प्रज्वलित होती है, और सत्यसे ही वायुका सञ्चार होता है । सब कुछ सत्यपर ही टिका हुआ है । देवता, ब्राह्मण और पितर सत्यसे ही प्रसन्न होते हैं । सत्य सबसे बड़ा धर्म है, अतः सत्यका कभी उल्लङ्घन न करे । ऋषि-मुनि सत्यपरायण, सत्यपराक्रमी और सत्यप्रतिज्ञ होते हैं, इसलिये सत्य सबसे श्रेष्ठ है—

सत्येन सूर्यस्तपति सत्येनाग्निः प्रदीप्यते ।
सत्येन मरुतो वान्ति सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥
सत्येन देवाः प्रीयन्ते पितरो ब्राह्मणास्तथा ।
सत्यमाहुः परो धर्मस्तस्मात्सत्यं न लङ्घयेत् ॥
मुनयः सत्यनिरता मुनयः सत्यविक्रमाः ।
मुनयः सत्यशपथास्तस्मात्सत्यं विशिष्यते ॥

(महा० अनु० ७५ । २८–३२)

पाठक देखें कि तैत्तिरीयारण्यक एवं नारायणोपनिषद्के मन्त्रोंका इस इतिहासने कैसे उपबृंहण किया है । यही बात इसी पर्वके बाईसवें अध्यायमें भी आयी है।

पुराणोंमें तो यह विवेचन और भी व्यापकरूपसे हुआ है। 'मार्कण्डेयपुराण' में हरिश्चन्द्रोपाख्यानके आठवें अध्यायमें ये ही श्लोक प्रायः ज्यों-के-त्यों आते हैं । पद्मपुराण सृष्टिखण्डमें नन्दाने कहा है कि सत्यपर ही संसार टिका हुआ है । धर्मकी स्थिति भी सत्यमें ही है । सत्यके कारण ही समुद्र अपनी मर्यादाका उल्लङ्घन नहीं करता । राजा बलि भगवान् विष्णुको पृथ्वी देकर स्वयं पातालमें चले गये और छलसे बाँधे जानेपर भी सत्यपर ही डटे रहे । गिरिराज विन्ध्य अपने सौ शिखरोंके साथ बढ़ते-बढ़ते बहुत ऊँचे हो गये थे, किंतु सत्यमें बँध जानेके कारण ही वे अपने नियमको नहीं तोड़ते । सत्य ही उत्तम तप है । सत्य ही उत्कृष्ट ज्ञान है । सत्य-भाषणमें किसी प्रकारका क्लेश नहीं है । सत्य ही साधु पुरुषोंके लिये कसौटी है । यही सत्पुरुषोंकी वंश-परम्परागत सम्पत्ति है । सम्पूर्ण आश्रयोंमें सत्यका ही आश्रय श्रेष्ठ माना गया है । सत्य सम्पूर्ण जगत्का आभूषण है । इसके आश्रयसे म्लेच्छ भी स्वर्गमें पहुँच जाता है । भला उसे कभी भी कैसे छोड़ा जा सकता है—

सत्ये प्रतिष्ठिता लोका धर्मः सत्ये प्रतिष्ठितः ।
उदधिः सत्यवाक्येन मर्यादां न विलङ्घति ॥
विष्णवे पृथिवीं दत्त्वा बलिः पातालमास्थितः ।
छद्मनापि बलिर्बद्धः सत्यवाक्येन तिष्ठति ॥
प्रवर्द्धमानः शैलेन्द्रः शतशृङ्गः समुच्छ्रितः ।
सत्येन संस्थितो विन्ध्यः प्रबन्धं नातिवर्तते ॥
सत्यं साधु तपः श्रुतं च परमं क्लेशादिभिर्वर्जितं
साधूनां निकषं सतां कुलधनं सर्वाश्रयाणां वरम् ।
स्वाधीनं च सुदुर्लभं च जगतः साधारणं भूषणं
यन्म्लेच्छोऽप्यभिधाय गच्छति दिवं तत्त्यज्यते वा कथम् ॥

(पद्मपुराण, सृष्टिखं० १८ । ३९६–४०४)

ये श्लोक अन्यत्र भी कितने ही स्थलोंपर उपलब्ध होते हैं । शिवपुराण उमासंहिताके बारहवें अध्यायमें २३ से ३६ तकके श्लोकोंमें भी सत्यकी अपूर्व महिमा भरी पड़ी है । वैसे ही देवीभागवतके सातवें स्कन्धके बीसवें तथा इक्कीसवें अध्यायमें भी बातें विस्तारसे कही गयी हैं। सच बात तो यह है कि अपने धर्मग्रन्थोंके पन्ने-पन्नेमें सत्य भरा पड़ा है । ऐसा कोई भी ग्रन्थ नहीं जिसमें सत्यकी प्रशंसा न हो । अपने पूर्वज कितने सत्यप्रेमी और असत्यभीरु थे, इसके लिये हरिश्चन्द्र, युधिष्ठिर, दशरथ, राम, बलि, शिवि, दधीचि, नल और विन्ध्य ही नहीं, व्यक्ति-व्यक्ति उदाहरण हैं । महाराज दशरथने जो—

रघुकुल रीति सदा चलि आई । प्रान जाहुँ बरु बचनु न जाई ॥

—यह कहा था । क्या इसमें हमें उक्त प्रकारका सङ्केत नहीं मिल रहा है ?

पर आजकी हवा विचित्र है । स्वतन्त्रताकी हवा लो—उच्छृङ्खल प्रकृतिके लोग अपनी इन्द्रियलोलुपतामें बाधक किसी प्रकारकी बात नहीं सुनते । धर्म-ग्रन्थोंके दायरेसे बाहर जानेके लिये ये लोग खुले मुँह कहते हैं कि 'अपने पूर्वजोंने प्रह्लाद आदिकी झूठी कहानियाँ लिखी हैं । हमारे शास्त्र दकियानूसी विचारके और ब्राह्मणोंकी स्वार्थपूर्तिके लिये लिखे गये हैं ।' पर सच पूछा जाय तो पग-पगपर परम असत्यपूर्ण, वञ्चनामय व्यवहार, आजके इन्हीं इन्द्रियलोलुपोंका सहज-स्वाभाविक धर्म है,

जिन ऋषियोंने महामहिम, परम पुण्यप्रद, एक नहीं हजारों अश्वमेध यज्ञसे भी सत्यका मूल्य अधिक आँका;

अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम् ।
अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेकं विशिष्यते ॥

(यह श्लोक महा० आदि ७४ । १०३, अनु० २२ । १४, शान्ति० १६२ । २६, अनु० ७५ । २९, मार्क० पु० ८ । ४२, पद्मपु० सृष्टि० १८ । ४०२, शि० पु० उ० सं० १२ । २९, दे० भा० ७ । २१ । ७ इत्यादि कितने ही स्थलोंपर मिलता है) जिनके शाप और वरदान कभी व्यर्थ न हुए, भला वे झूठ क्योंकर लिखते ? असल बात तो यह है कि आज हमारा बौद्धिक स्तर इतना ही गिर गया है कि उनकी बातें हमारी समझमें आने योग्य ही न रहीं ? आज हमारा इतना नैतिक पतन हो गया है कि यथार्थ वस्तुको हम परख ही नहीं पाते, हमारी बुद्धि इतनी कलुषित हो गयी कि हमें सभी बातें उल्टी समझ पड़ती हैं—'सर्वार्थान्विपरीतांश्च' का बोध होता है । लेखका विस्तार अधिक हो गया इसलिये हम यहाँ सत्यके स्वरूपपर विचार नहीं करते, पर सत्यासत्यका निर्णय हमारा क्षेत्रज्ञ कर देता है (मनु० ८ । ९६) । अन्तमें हम त्रिकालसत्य—'सत्यं च त्रिकालाबाध्यत्वम्', सत्ययोनि—एकमात्र परम सत्य परमात्मासे—अपने प्राचीन सत्य प्रेमकी प्राप्तिकी प्रार्थना करते हुए पाठकोंसे विदा लेना चाहते हैं ।

प्रभुपर विश्वास

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥

(गीता १२ । २०)

उस उज्ज्वल भूमिमें हिमराशिके होनेका भ्रम भले हो जाय किंतु वायुका क्षारगन्ध सूचित कर देगा कि आपके सम्मुख पृथ्वीपर नमक फैला हुआ है । सम्मुख क्षितिजसे एकाकार अपार नीलोदधि जब पूर्णिमाको नभमें अपने हृदयरत्न पूर्णचन्द्रको देखकर उल्लसित हो उठता है और उत्तुङ्ग कल्लोल कर अङ्कमाल देनेका अफल प्रयास करता है, धराका यह अञ्चल अन्तर्हित हो जाता है । आवेशका अन्त है श्रान्ति । विफल वारिधि जब अपने-आपमें संकुचित होने लगता है, पुलिन श्वेत हो जाता है । निरुत्साहने जैसे उसे थकित कर दिया हो । सम्मुख सुदूर वह न तो पर्वतमाला है और न वृक्षपंक्ति । वे जलधिकी हिलोरें हैं जो विशाल सर्पकी भाँति अपना मस्तक बार-बार पटक रही हैं । उनका श्रेष्ठतम शिरोरत्न कौस्तुभ कबका हरण हो चुका है ।

पीछे सघन वनावली । पील्ह तथा दूसरे कंटकीय तरु एवं लताएँ । मध्य-मध्यमें नागफनी एवं थूहरोंकी सघन हरीतिमाकी परिधिसे घिरे हुए खेतोंकी पंक्ति । हरियालीने अपनी सघनतामें भूमिकी धूसरताको आच्छादित कर लिया है जैसे सागरको अंकमाल देनेके समय पृथ्वीने अपनेको तद्रूप नीलवर्णका बना लिया है । क्षारकी उज्ज्वलता उनके मिलनकी सात्त्विकता ही तो है । उच्च ताड़तरु एवं खजूर आकाशकी ओर कुछ अज्ञात संकेत-से करते जान पड़ते हैं ।

तटके पोतावासमें विभिन्न रंगकी पताकाएँ सागरके इन प्रफुल्ल सुमनोंके समान जलयानोंपर तितलियोंकी भाँति उड़ा ही करती हैं । नगरकोट एवं पोतावासके मध्यका मार्ग कोलाहलपूर्ण तो रहता ही है । स्तम्भतीर्थ अपने यातायातके लिये प्रख्यात है और उसके कुशल कलाकार भारतकी कीर्ति-पताका सुदूर विडालाक्षदेश (इंग्लैंड) तक विस्तारित कर चुके हैं । नगरका यह विशाल वैभव पता नहीं कब आक्रान्त हो उठे । जहाँ चीनी होती है, चींटीके चरण भी तो वहीं पहुँचते हैं । समुद्रीय दस्युओंकी क्रूर दृष्टि यहाँ आकर ही टिकती

है । सुदृढ़ नगरकोट इसका संकेत करता है ।

कब पश्चात् मरुप्रदेशको पार करके वनके भीतरसे ऊँटोंकी पंक्ति कहीं सागरतटपर पहुँचेगी, कौन कह सकता है। कौन कह सकता है कि उसके आरोही कब नौकाओंपर बैठ करके पोतावास एवं नगरपर आक्रमण कर देंगे। उनसे भी भयंकर हैं वे दस्यु जो सीधे सागरसे आते हैं। दूर मरुप्रदेशमें पारसीकदेश (फारस) से पश्चिम कहीं निवास है उनका। समुद्रीय प्रवाल द्वीप (मूँगेके टापू) उनके शिविर हैं। मध्यमें अगाध जल, चारों ओर उदधिकी उत्ताल तरङ्गें और वहाँ सघन लता, तृणोंसे आच्छादित नारिकेल, खजूरके वृक्षोंसे मस्तक उठाये एक दुरूह कुण्डलाकार भूभाग। ये प्रवाल द्वीप पोतोंके लिये अगम्य हैं। उनके समीपकी जलमग्न शिलाएँ मुखफाड़े अपरिचित यात्रीके भक्षणार्थ उद्यत रहती हैं। दुर्दम दस्यु अपनी लघु नौकाओंसे वहाँ केन्द्रित होकर सुरक्षित बनते हैं।

स्तम्बतीर्थ (खम्भात) के मन्दिरोंमें शिखर नहीं। म्लेच्छ दस्युओंका आक्रमण प्रथम इन देवपीठोंपर ही होता है और……भावुकोंके हृदयको भग्न करनेमें पता नहीं क्या मिलता है उन पिशाचोंको। विवश होकर यहाँ मन्दिरोंको सामान्य गृहोंका रूप देनेकी परम्परा प्रचलित हुई। कलश, पताका, गरुड़स्तम्भ और द्वारदेशपर नन्दीको रखना छूट गया। दस्युओंके भयसे यह परम पावन कुमारिका क्षेत्र तपस्वियोंके लिये वर्जित हो गया।

नगर-परिखासे रक्षित होनेके भावकी उपेक्षा करके, पोतावासके जनाकीर्ण राजपथसे दूर सागर एवं वनकी सीमा निश्चित करनेवाली यह कौन-सी कुटिया है। यहाँ यह गैरिक ध्वजा और यज्ञ-धूम, भय नहीं है क्या वहाँ दस्युओंका ? महाश्मशानके समीप समाधियोंके उज्ज्वल इधर-उधर बिखरे छोटे-बड़े समूहसे तनिक हटकर कोई महाभैरवका आराधक दक्षिणाग्निकी उग्रज्वालामें आहुति देने तो नहीं बैठा है ? वीराचारी कापालिकके लिये उपयुक्त है यह साहस ! उसका सिद्ध शव जब अपनी आँखोंसे अंगार उगलता, अपने करकंकालोंको बढ़ाकर दुर्गन्धिसे वायुको भर देगा, दुर्दम दस्युदल केवल मिट्टीकी मूर्तियोंकी भाँति पंक्तिबद्ध खड़ा होगा बलि-पशु बनकर। हिलनेकी शक्तितक वह बैताल उससे छीन लेगा।

तुलसीके ये हरे-भरे सुपूजित पौधे, यह कुन्द, कुरबक एवं मल्लिका। यज्ञधूमकी यह उन्मद सुरभि और यह गोबरसे लिपी पवित्र भूमि। वीराचारी तो सात्त्विक उपासक नहीं होता ? गैरिक ध्वजासे तो उसे कोई सम्बन्ध नहीं। यदि यह उसकी पुष्पवाटिका ही हो तो जपा एवं अपराजिताके पुष्प कहाँ हैं ? धूम्र तो नहीं सूचित करता कि भगवान् अग्निदेवको कारणद्रव्य (सुरा) की दूषित आहुति मिली है। कौन जाने, वह तब भी साहस नहीं कर रहा था आश्रममें प्रवेश करनेका। कहीं 'अन्तः शाक्ता बहिः शैवाः' की बात हुई तो लेनेके देने पड़ जायँगे। बिना बुलाये यमराज आये धरे हैं। इच्छाकी प्रबलता भयके द्वारा मध्यमें अटक गयी। वहीं खड़े होकर वह ध्यानसे देखने लगा।

'उम्मा !' एक उजला बछड़ा पूँछ उठाये कूद रहा था। उसे चिन्ता नहीं थी कि मस्तकके कुंकुमतिलकसे वह सुन्दर हुआ है या नहीं। गलेमें सुमनोंकी मोटी माला उसे अस्वाभाविक लग रही थी। 'यह क्या उलझन।' वह बार-बार मस्तक हिलाकर फेंक देना चाहता था उसे। श्रृङ्गारकी भावनासे दूर था वह।

'हम्मा !' बच्चेके शब्दका उससे उच्च स्वरने उत्तर दिया भीतरसे। वह आश्रमकी हरी सुमन-शोभित वीरुध परिखासे बाहर आ गया था। माताने उसे न देखकर पुकारा था।

'धर्म !' एक वृद्ध पुरुष द्वारपर पहुँचे। करोंमें

स्वच्छ पात्र था और अब भी उसमें कुछ पुष्प-पंखुड़ियाँ पड़ी थीं तथा प्रदीप जल रहा था। पञ्चपात्र एवं आचमनी सूचित कर रहे थे कि वे गोपूजन करके इधर मुड़ पड़े हैं। 'तुम्हारी माता नन्दिनी आकुल हो रही हैं। आओ भाई!' चञ्चल बछड़ा अभी अपरिचितको सूँघकर उछलने लगा था। सम्भवतः जान लेना चाहता था कि यह कौन है? उस चपलने आह्वानका आदर किया और उनको सूँघता परिखाके भीतर उछल गया।

'आओ भाई! इस अकिञ्चनका आतिथ्य स्वीकार कर लो!' केश एवं श्मश्रुका श्वेतवर्ण स्नेहभरे स्वरोंमें सात्त्विक बनकर प्रत्यक्ष हो गया। उज्ज्वल वस्त्रोंमें वह तेजोमूर्ति अपनी भव्यतामें स्वयं प्रतिष्ठित थी। स्नेह एवं सौम्यता उससे प्रत्यक्ष हो रही थी। भयके भावोंको कहीं स्थान ही नहीं था। युवकने आगे बढ़कर प्रणाम किया।

'आर्य! दस्युओंके उपद्रव अभी शान्त नहीं हुए हैं।' युवकने आसनको बड़े संकोचसे स्वीकार किया। अर्घ्यको रोकनेका प्रयास भी असफल हुआ और पाद्य उठ चुका था वृद्धके करोंमें। वह चाहता था कि किसी प्रकार उनके ध्यानको दूसरी ओर लगाया जाय। आज नगर परिखासे बाहरी प्रदेशमें यह पुण्यपताका एवं उससे भी उच्च यज्ञकी धूम्र पताका....।' कैसे कहे वह कि दस्युओंको आकर्षित करनेके कारण ये वाञ्छनीय नहीं हैं। एक आस्तिक अपनेसे महत्तमके सम्मुख कैसे इन शब्दोंका उच्चारण करे।

'बड़े छली हैं आप!' वृद्ध हँसे। 'भयभीत करके एक निर्बल वृद्धकी परीक्षा ले रहे हैं। कौन जाने—कौन-सी करुणाधारा इसमें छिपी है। इस दीनको अपनी अल्प अर्चा श्रीचरणोंमें अर्पित कर लेने दीजिये मेरे प्रभु! मैं जानता हूँ कि चक्रधरकी भुजाएँ प्रमाद नहीं करतीं और उनके चक्रकी प्रचण्ड ज्वाला महाकालके लिये भी असह्य है।' जो अतिथिको आराध्यका स्वरूप ही समझता हो, उसका ध्यान पूजनसे अन्यत्र कर देना सहज नहीं होता।

'मैं बालक हूँ!' संकोचसे युवकने पैर समेट लिये। वृद्धने पात्रमें स्वच्छ जल लाकर सम्मुख रख दिया था और पाद-प्रक्षालन करना चाहते थे।

'बालक और वृद्ध—क्या नहीं हैं आप!' वृद्ध हँसे। 'मैं संकोचमें डालना नहीं चाहूँगा।' उन्होंने हाथ हटा लिया और युवकने स्वयं पैर धो लिये अपने।

'यदि दस्यु आये....।'

'द्वारिका दूर नहीं है और गरुड़के पक्षोंका वेग मनसे तीव्र ही है!' युवकका प्रश्न पूर्ण होनेसे पहले ही उत्तर दे दिया गया।

'स्तम्बतीर्थसे कच्छ—इस दृष्टिसे वह निकट तो है, किंतु अब द्वापर तो नहीं है देव?'

'द्वापर तो एक काल था, आया और चला गया।' वृद्धके नेत्र अर्धोन्मीलित हो गये। 'द्वारिकेश कालकी सीमामें आबद्ध नहीं हुआ करते। वे और उनकी द्वारिका नित्य हैं।'

(२)

'दस्युओंकी नौकाएँ पारसीक तटसे प्रवाल द्वीप-पुञ्जके जपा-द्वीपकी ओर आ रही हैं!' निरीक्षक पोतने तटपर अवरोहणिका (सीढ़ी) व्यवस्थित की और उसमेंसे एक तरुण शीघ्रतापूर्वक आवास-संरक्षकके कक्षमें प्रविष्ट हुआ। 'वे नीलवर्णा तरणियाँ और उनके आरोहियोंने भी उसी प्रकारके वस्त्र धारण कर रक्खे हैं। उनके पोत भी उदधिकी उत्तुङ्ग लहरोंमें वर्णकी एकताके कारण लक्षित नहीं होते। एक शस्त्रकी चमक हुई। प्रथम तो भ्रम हुआ कि कोई मत्स्य उछला होगा; किंतु स्थिरताने संदेह किया। अपनी रक्षिका तरणिसे निकटतक जाकर निरीक्षण किया है हमने,

नौकाओंकी एक सुदीर्घ पंक्ति द्वीपपर पहुँच रही है।' आसनपर बैठनेका ध्यान नहीं आया। उसे कार्यकी गम्भीरताने किसीको शिष्टाचारका अवकाश नहीं दिया।

'आज पाँच वर्षके पश्चात् ये मरुदेशीय म्लेच्छ दस्यु पुनः आक्रमणका साहस कर रहे हैं।' संरक्षक गम्भीर हो गये थे। श्वेत भूर्जपत्रोंका एक स्तर उन्होंने सम्मुख कर लिया था और उनकी लेखनी मसिपात्र-की मसिसे तीव्रतापूर्वक काली रेखाएँ बनानेमें व्यस्त थी। एक क्षणके लिये उन्होंने मस्तक उठाया और चिन्ताजन्य स्वेद-कण भालसे बायें हाथसे पोंछ लिया गया। 'गुर्जरेश सिद्धराज जयसिंह और सौराष्ट्राधिप 'रा' खेंगारका प्रचण्ड प्रताप अस्त हो गया। 'रा' माँडलीककी उच्छृङ्खलताने योगमायासदृश चारणीसे शाप कराया। उन्हें सौराष्ट्र एवं स्तम्भतीर्थ दोनोंके लिये भय है।'

'अपने ध्वंसक पोतोंपर शतघ्नियाँ सज्जित हो जायँगी और तटपर भी वे महाकाली अग्निवर्षा करेंगी।' सम्मुख खड़े तरुणने तेजस्विता प्रदर्शित की। 'एक-एक तरुण मातृभूमिकी रक्षा करेगा।'

'मातृभूमिकी रक्षा तो करेंगे वे भगवान् सोमनाथ अथवा गुरुदत्त।' लेखनी छोड़कर अञ्जलि बाँध ली गयी और मस्तक झुक गया। 'समाचार मिला है कि दस्युओंने गुरुण्ड देश (यूरोप) से अधिक परिष्कृत भुशुण्डियाँ प्राप्त कर ली हैं। उनकी शतघ्नियाँ भी दूर-तक अग्निवर्षा कर सकती हैं। जो भी हो, हम सामना करेंगे। तुम अपना 'महाकाल' सज्जित करो और 'भूतेश' एवं 'वरुण' को आज्ञा दो कि वे प्रवाल द्वीप-पुञ्जोंपर निकटसे सतर्क दृष्टि रक्खें।' संरक्षकने तीन युद्ध पोतोंके लिये एक साथ निर्देश पत्र लिख लिया था। आज्ञापत्रपर समीपके पात्रसे रेणुका फैलाकर मसिशोषण सम्पन्न किया गया और तब वह पत्र तरुण-की ओर बढ़ाया गया।

'जय सोमनाथ!' तरुणने दोनों भुजाओंको पूर्णतः आगे करके अञ्जलिपर पत्र लिया। मस्तकने झुककर आज्ञापत्रको अभिवादन दिया।

'भवानी तुम्हें यश दें।' संरक्षकने तरुणको अभिवादनके उत्तरमें दक्षिण हस्त उठाकर आशीर्वाद दिया। वे आसनपर सीधे हो गये थे।

'धूँ-धूँ, धम्-धम्!' पोतावासके उच्च निरीक्षण शिखरसे शङ्खनाद हुआ और एक साथ शृंग बजने लगे। विशाल भेरी अपनी ध्वनिसे दिशाओंको ध्वनित करने लगी। सम्पूर्ण पोतावास कोलाहलपूर्ण हो गया। प्रत्येक कर्मचारी व्यस्त हो गया। भयसूचक रक्तिम ध्वज वरुणमन्दिरके शिखरपर चढ़ चुका था और तटकी शतघ्नियोंने अनन्त नील-सिन्धुकी ओर अपने मुख सीधे कर लिये थे। उनके समीप लौह-शलाकाएँ, अग्निचूर्ण (बारूद), लौहगोलक, स्फोट अयस् एकत्र हो रहे थे और उनके चालकोंने उनके अङ्ग-प्रत्यङ्गका इस प्रकार निरीक्षण प्रारम्भ कर दिया था, जैसे चिकित्सक किसी रोगीके शरीरका निरीक्षण करे।

संरक्षकने अश्वारोहण किया एवं स्वयं सम्पूर्ण पोतावासका निरीक्षण। युद्धपोत अपनेको प्रस्तुत कर रहे थे और संरक्षकका प्रकाण्ड पोत 'महाकाल' उनकी प्रतीक्षा कर रहा था तटपर अवरोहणिका आरोपित करके। पोतारोहण करते समय संरक्षकने सुन लिया नगरसे आता भेरी-निनाद। उन्होंने सन्तोष-की मुद्रा व्यक्त की। सन्देश भेजनेमें प्रमाद नहीं हुआ था। नगरद्वार बंद हो जायँगे और परिखाके कोटोंसे शूरोंकी भुशुण्डियाँ अग्निवृष्टि करेंगी। दस्युदल चाहे जितना प्रचण्ड हो, अकस्मात् आक्रमण करके अब हानि पहुँचानेका भय नहीं रहा। सावधान रणपोतोंसे तीव्रगामिनी दस्युतरणियाँ केवल पलायन कर सकती हैं और नगरकोटकी सुदृढ़ परिखापर म्लेच्छवाहिनी मस्तक पटके तो छिन्न ही होना होगा उसे।

'आचार्य पद्मधर' सहसा संरक्षकको कुछ स्मरण हुआ। अवरोहणिकाके मध्यसे ही वे उतर गये। 'वृद्ध तपस्वी! भारतीय जंगली दस्युओंने तो श्रद्धासे मस्तक ही झुकाया है उन्हें; किंतु ये म्लेच्छ दस्यु—भगवा ध्वज देखते ही उबल पड़ेंगे और उनका आक्रमण तब अत्यन्त उन्मादपूर्ण होगा, जब नगरदुर्गकी अग्निवर्षासे निराश हटेंगे वे।' एक अश्वारोही शीघ्र आज्ञा पाकर चल पड़ा।

'आचार्य मेरे कक्षमें निवास प्राप्त करेंगे!' संरक्षकने सहकारीको आदेश दिया। 'उनकी प्रत्येक सुविधा युद्धकालमें भी सर्वोपरि रहेगी!' अवसर मिलते ही वे आचार्यके पावन पदोंमें प्रणत होने उपस्थित हुआ करते हैं। अवसर विषम न होता तो स्वयं स्वागत करते। उन्हें दस्युओंको वारिधिके विशाल वक्षपर रोकना है। एक-एक क्षण भयको सन्निकट ला रहा है। प्रवाल द्वीपपर पीने योग्य जलका अभाव है। क्षार समुद्रीय जल वहाँ किसीको विश्राम नहीं देता। दस्यु वहाँ एकत्र होंगे और शीघ्र ही आक्रमणके लिये प्रस्थान भी कर देंगे। वहाँ तो उनका केवल एकत्र होनेका केन्द्र है।

'आचार्यने आश्रम परित्याग अस्वीकार कर दिया!' संरक्षकका पोत स्थिर हो गया था। पोतावाससे एक शीघ्रगति नौकाने अपना स्थिराधार (लंगर) पोततलके छिद्रपर फेंका। रज्जु-रोहणिकासे एक युवक 'महाकाल' के मुख्य कक्षमें पहुँचा और मस्तक झुकाया उसने। 'उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि उनके श्रीविग्रह अचल प्रतिष्ठित हुए हैं, अतः वे कहीं जा नहीं सकते। प्रभुके श्रीचरणोंसे दूर तुच्छ शरीरके लिये—नश्वर जीवनके लिये जाना स्वीकार नहीं। सर्वेश्वरकी इच्छाके विरुद्ध कुछ हो नहीं सकता। क्षुद्र एवं तुच्छके द्वारा उन अखिलेशकी इच्छा पूर्ण हो!' सन्देशवाहक अपनी विफलतापर दुःखी था।

'वर्तमान आवासरक्षकने वहाँ सैन्य भेजी?' संरक्षकने दूसरा प्रश्न किया।

'वे विवश हैं। एक ब्राह्मणकी इच्छाका अनादर करनेका साहस कौन करेगा?' युवकने अपने उत्तरसे उनको पूरी चिन्तामें डाल दिया। 'आचार्यने मुझे भली प्रकार सावधान कर दिया था कि अपने आश्रमको सैनिकोंसे घिरा देखना वे नहीं चाहते। उनका कहना है, यहाँ मेरा क्या है। जिसका आश्रम है, जिसका शरीर है, जिसके लिये जीवन है, उसकी इच्छा अबाध पूर्ण हो। रक्षा एवं रोकना जहाँ गृहस्थके लिये अनिवार्य धर्म हैं, एक त्यागीके लिये वे उपेक्षाके योग्य हैं। उसका विश्वमें कोई शत्रु नहीं और यदि कोई उनके नश्वर शरीरको नष्ट करके प्रसन्न होता हो, तो प्रसन्न हो।' सन्देशवाहकके स्वरमें वह तटस्थता कहाँ, वह तो रो रहा था।

'वे देवकल्प महापुरुष!' संरक्षकने नेत्रोंसे वस्त्र लगाया। 'उन्हें न तो कहीं आसक्ति है और न मोह! अपने आराध्यमें नित्य तन्मय रहते हैं। प्राणीमात्रका कल्याण, सबका सुख और जो समीप पहुँचे, उसीकी शान्ति अभीष्ट हो जाती है उन्हें। उनका सुख, उनकी सुविधा तो जैसे कुछ है ही नहीं। उन असंगको जीवनका क्या मोह! किंतु ये पिशाच···!' चिन्तासे मुख नीचे झुक गया। भालपर रेखाएँ पड़ीं और नेत्र पैरोंके पास जैसे कुछ अन्वेषण कर रहे हों।

'दस्युओंने दक्षिण दिशाको नौकाएँ छोड़ दीं!' सहसा एक तरुणने प्रवेश किया। 'सम्भवतः वे कहीं तटपर दूर उतरेंगे!' निरीक्षक पोतने पताकाद्वारा संकेत दिया था और सूचनाकक्षसे वही सन्देश लेकर वह तरुण आया था।

'वे पूर्वको मुड़ रहे हैं!' दूसरा सन्देशवाहक पहुँचा।

'उन्होंने पोतावासपर नीचेकी ओरसे आक्रमण

करनेका निश्चय किया जान पड़ता है।' संरक्षकने कुछ सोचा। 'हो सकता है, उनका कोई दल ऊपरसे आक्रमण करनेको रक्षित हो और वे हमें भ्रममें डाल रहे हों!' शत्रुके व्यूहका स्पष्टीकरण नहीं हुआ था।

'नौकाओंका एक दल नीचे जा रहा है और एक स्थिरप्राय है!' एक और सन्देश आया।

'भूतेश' एवं 'वरुण' पीछे लौटें! उन्मुक्त समुद्रके स्थानपर हम अपने आखात (खाड़ी) में ही शत्रुका सामना करेंगे। 'महाकाल' दक्षिण भुजापर अवस्थित होगा आखातके।' शत्रु कोई भी व्यूह बनावे, संरक्षकने अर्धचन्द्र व्यूहसे अर्धचन्द्र देना निश्चित कर लिया।

× × ×

(३)

'काफिर, हमने इतने दिनों इधर क़याम नहीं किया तो इनके बुतखाने खड़े हो गये!' वह दैत्याकार दस्यु गैरिक ध्वजको घूर रहा था। 'ये कमबख्त आतिश परस्त। इन्हें जहन्नुम रशीद करके सवाब लिये बिना एक कदम नहीं बढ़ाना है।' यज्ञीय धूम देख लिया था उसने। इन दस्युओंकी दृष्टि गृध्रके समान तीव्र होती है। नीली मखमलपर जरीके तारोंसे कुछ फूल-पत्ते बने थे और उसे उसने अपने नीले चोगेके ऊपर पहन रक्खा था। लंबा भाला नीचे पड़ा था और उसकी भुशुण्डिका सिरा मस्तकके नीलाच्छादनका स्पर्श कर रहा था।

'सरदार, अभी काफी दूर हैं हम और काफिरोंका दरियाई काफिला तैयार दीखता है।' दूसरा भी आकृतिमें वैसा ही दैत्य था; किंतु उसके नीले मखमली आवरण एवं शिरस्त्राणपर स्वर्णिम तारोंकी कलाकृति बहुत थोड़ी थी। 'जान पड़ता है, उनको हमारे हमलेका सुराग लग चुका है।' सरदारके साथ वह भी समुद्रकी ओर ही देख रहा था।

'माहताबकी रोशनीमें कयामकी गफलत तो हो चुकी।' बात ठीक थी। यदि वे सब पूर्णिमाके बदले पारसीक तटसे प्रवालद्वीपको अमावस्याके अन्धकारमें आये होते तो स्तम्भतीर्थके चर किसी प्रकार उनका पता नहीं पाते। 'जो कुछ हो, निशार आगे क़दम रखकर पीछे नहीं लौटेगा।' उसने दाँतोंसे अधर दबाया और दाहिने हाथकी मुट्ठी सुदृढ़ करके आकाशमें उछाली।

'हमराहियोंकी तादाद काफी होनेपर भी शहरपनाहको तोड़ लेना मुमकिन नहीं।' दूसरेने अपनी शङ्का प्रकट की। 'अब उनके दरवाजोंको खुला पानेकी उम्मीद फिजूल है और अपनी किश्तियाँ भारी दरियाई काफिलेके मुकाबिलेके वास्ते नामुकम्मिल हैं। हमारे काफिलेमें एक भी जंगी किश्ती नहीं।' निराशा उसके नेत्रोंमें प्रत्यक्ष होने लगी थी और अगर सरदार उसकी ओर देखता तो समझ लेता कि दस्यु होकर भी मृत्युका भय उसे भीत कर रहा है।

'मेरा इरादा मजबूत है। दिनकी रोशनीमें हमने इसी वास्ते हमला मंसूख नहीं किया कि आफताबकी खुली रोशनी हमें मौका दे। दुश्मनका भारी काफ़िला, जंगी किश्तियाँ जरूर हमें काफी नुकसान पहुँचायेंगी, मगर वे इकट्ठा नहीं हो सकतीं और उनको तेजीसे मोड़ना मुमकिन नहीं। हमारी किश्तियाँ उनके बीचसे आगे निकल जायँगी।' उसने पैर पटका और नौका चञ्चल होने लगी।

'मुर्गेकी तरह खुद दरबेमें बंद होनेसे फायदा?'

'फायदा—फायदा अगर यहाँ न भी हुआ तो कयामतके वक्त बहिश्तमें हो जायगा।' दस्यु सरदार आकृतिके समान हृदयसे भी दैत्य था। 'अबतक काफ़िर यहाँ बुतपरस्ती नहीं कर सका था। आज फिर उसका मैला निशान उड़ने लगा है। निशार उसे दोजख भेज देगा। वह देखो, वह निशान शहरपनाहसे बाहर है। तकदीरने साथ दिया तो हम उसे मिट्टीमें

मिलाकर लौट आवेंगे। बुतशिकन सरदार शहीद होनेसे डरता नहीं।' कहते-कहते सहसा उसने पीछे देखा। उसके साथी चिल्ला रहे थे भयसे।

'या अल्लाह!' दस्युओंका वायुज्ञान व्यर्थ हो गया था। अबतक ऐसा कभी हुआ नहीं। समुद्रीय तूफानोंका अनुमान वे एक सप्ताह पूर्व कर लिया करते हैं। आज एक घड़ी पूर्वतक आकाश निर्मल था और वायुमें कोई भयङ्कर गन्ध नहीं थी। यह अकस्मात् वायुवेग क्यों बढ़ने लगा। वे खुले समुद्रमें हैं। आखातमें प्रवेश करनेमें अब भी कुछ देर है। प्रतिपक्षी जलयान आखातमें सुरक्षित अग्निवर्षाको उद्यत ही थे कि यह दूसरी विपत्ति। लहरें उच्चसे उच्चतर होती जा रही हैं। बैठ जानेको विवश हो गया वह। नौका अस्त-व्यस्त उछलने लगी थी।

'वह दूर, ऊपर काला पहाड़ उड़ा आ रहा है।' भयसे देखा उसने। सुदूर उत्तर क्षितिजपर सामान्य नेत्र एक विन्दु देख सकते थे। दस्युने दूरीसे आकृतिका ठीक अनुमान किया था। 'उतारो पाल्को।' आदेश व्यर्थ था। कोई उठनेमें भी समर्थ नहीं था। क्षुब्ध मकरालय उन क्षुद्र नौका-कीटोंको अपने फैलाये हुए भयङ्कर मुखविवरसे निगलता जा रहा था और सरदारकी नौका उसका अन्तिम ग्रास थी। किसी नौकाका चिह्नतक नहीं बचा।

× × × ×

(४)

'भामे! भोजन अब और कहीं होगा। प्रस्थानको प्रस्तुत हो।' अपनी दिव्य द्वारिकामें वह द्वारिकेश मानस मृदुल स्वर्णासनपर आसीन हो चुका था और देवी सत्यभामाने रत्नजटित स्वर्णपात्रमें अपना अनुराग व्यञ्जनोंकी विविधताका रूप देकर निवेदित कर दिया था। मानवके स्थूल नेत्र उस दिव्य-जगत्के दर्शनमें असमर्थ हैं। 'अब तो स्तम्भतीर्थमें साथ-साथ आतिथ्य स्वीकार होगा।' आचमनको उत्थित जल विसर्जित हो गया और सत्यभामाजीने देखा, प्राङ्गणमें गरुड़जी पक्ष समेटकर उतर आये हैं।

'षोडश सहस्र सुकुमारियोंके उद्धारकी दूसरी आवृत्ति तो नहीं होनी है?' रत्नदण्ड करोंमें तनिक अधिक चञ्चल हुआ। वालव्यजनने वायुमें तनिक बल दिया। मणिकंकणकी झनकारमें मयूरपिच्छने एक उन्मुक्त हिलोर ली। श्रीहरिका मुख तो गम्भीर है। अधरोंका हास्य वहीं कुण्ठित हो गया। 'वहाँसे कोई उत्पीड़ित आर्त आह्वान तो नहीं उठ रहा है? उस क्षेत्रमें तपस्वी तो जाते नहीं हैं।' ममतामयी चञ्चल हो उठीं।

'भामे! वहाँका वह विलक्षण उत्पीड़ित अन्तरमें भी आह न करेगा।' उन सर्वेशके सम्मुख देश और कालकी यवनिका कहाँ रहती है। 'वह उत्सर्गकी मूर्ति मुझमें अपनेको अर्पित करके श्रद्धासे स्थिर हो गया है। शरीर और श्वासके मोहसे परे उसकी श्रद्धा अविचल है।' दयासिन्धु जैसे ध्यानस्थ हो रहे हों।

'मेरे पारिजात पुष्प आज सार्थक हो जायँगे। पुष्पाञ्जलि दूँगी मैं उनके पावन पदोंमें।' अखिलेशकी अर्धाङ्गिनीका हृदय उल्लसित हो रहा था। 'उपहासका भी एक प्रकार होता है। व्यर्थ ही मुझे भीत कर दिया—बड़े वैसे हैं आप।' एक स्निग्ध अपांगवीक्षण एवं मन्द स्मित।

'उन्मद दस्यु-नौकादल एकमात्र उसे लक्ष्य बनाकर बढ़ रहा है।' मधुसूदनका मेघगम्भीर स्वर जैसे अपने आपमें ही उच्चरित हो रहा हो। 'प्रतिकारकी भावना भी वहाँ नहीं है और मेरे आह्वानकी बात—वह भी तुच्छ शरीरके लिये। सोच ही नहीं सकता वह।'

'इसीलिये आप शान्त बैठे रहेंगे।' उन ओजमयीके लिये यह विलम्ब सह्य नहीं था। 'सर्पाशी गरुड़! तुम्हारे तुण्ड एवं पंजोंमें शक्ति है। तुम्हारे पक्ष पर्वतोंको भी चूर्णित करनेमें समर्थ हैं। प्रस्थान करो। मैं दो क्षणमें सुनना चाहती हूँ कि दस्युदल उदधिके अन्तरालमें निमग्न हो चुका।' उठकर आदेश दिया सत्यभामाने और पक्षिराजने पक्ष सम्हाले।

'गरुड़ एकाकी नहीं जायँगे।' सहसा वे वैनतेय दोनों आज्ञाओंके सङ्कोचमें पड़ गये। 'देवि! तुम्हारे पारिजातपुष्पोंको भी सार्थक होना चाहिये और आदेश-की रक्षा भी। पक्षिराजके पक्ष आततायीको उदधि-समाधि देंगे और हम आतिथ्य ग्रहण करेंगे उस अतिथि भक्तका।'

'पधारो देव!' बिना विलम्ब वे पक्षिपतिके समीप पहुँच गयीं।

'इस नभयात्रामें आप विदर्भकुमारीको भाग न देंगी?'

'केवल एक क्षण।' आज राजपट्टमहिषी बिना वाहनके दौड़ गयी थीं और सचमुच कुछ पलोंमें ही वे महारानी रुक्मिणीजीके करोंमें कर डाले उपस्थित थीं। एक हल्की थपकी मिली पक्षिराजको और दोनों पार्श्वोंमें स्थिर विद्युत्से घिरे नवजलधरने उनके पृष्ठ-देशको भूषित किया। दो क्षण पश्चात् कोमल पादपल्लवने उदर देशका स्पर्श किया। आराध्यका संकेत समझते अरुणानुजको क्या कठिनाई होने लगी। पक्षोंने वेगसे हिलना प्रारम्भ किया। नीचे महोदधि अपनी महोर्मियोंसे आर्तक्रन्दन करने लगा! उत्तुङ्ग तरङ्गें उठने लगीं!

पक्ष सम्पुटित हो गये। उपवनका एक पत्तातक हिला नहीं। आश्रमके कदलीतरुके विशद पत्रोंने भी कोई सूचना नहीं दी। केवल नन्दिनीने ऊपर मुख करके दो बार 'हम्मा, हम्मा' किया। पुष्पोंकी अञ्जलि भगवान् भास्करके लिये उत्सर्ग होने जा रही थी; आचार्य चौंके। स्वयं वे गगनविहारी नारायण तो अपने त्रिविध रूपोंमें सम्मुख नहीं आ गये। पक्षिराजकी पीठसे कूदकर तीन मूर्तियाँ खड़ी थीं। आचार्यकी अञ्जलिके पुष्प उनके पदोंपर गिरे और वे उन्हींपर मस्तक रखकर पृथ्वीमें दण्डवत् प्रणिपात करने लगे। दो अञ्जलियोंने पारिजात पुष्प उनके पदोंपर प्रक्षेप कर दिये, यह नहीं देख सके वे।

सन्तोषकी साधना

(लेखक—साधुवेषमें एक पथिक)

सन्तोष ही परम सुख है—यह मन्त्र भूल जाने-पर ही मनुष्य दुःखके शासनसे पीड़ित है। आज जो कुछ तुम्हें प्राप्त है, जो कुछ तुम्हारे सामने है, वह तभी फीका प्रतीत होता है, जब उतनेसे सन्तोष नहीं होता और तब उससे अधिककी प्राप्तिके लिये तुम्हें प्रयत्न करना पड़ता है; क्योंकि असन्तोषके कारण वर्तमानमें मिली हुई वस्तु फीकी और भविष्यकी वस्तु मधुर और सुन्दर दीख पड़ती है। संसारकी प्रत्येक वस्तु दूरसे देखनेमें जितनी पवित्र, सुन्दर और मधुर लगती है, उतनी निकटसे ग्रहण करनेमें नहीं रह जाती। सुन्दर वस्तुका उपभोग करते ही उसकी सुन्दरता नष्ट होने लगती है। जो कुछ भी जितनी मात्रामें तुम्हारे पास है, जबतक उतनेसे ही तुम्हें सन्तोष न होगा, तबतक तुम चाहे जितना अधिक-से-अधिक और अच्छा-से-अच्छा प्राप्त करते रहो, तुष्टि तथा तृप्ति नहीं हो सकती। मनके साथ लगा हुआ यह तृष्णारूपी भयानक भस्मक रोग है, जिसकी पूर्ति जितनी ही अधिकतासे करो उतनी ही उसकी बुभुक्षा बढ़ती ही जाती है। यह रोग अज्ञानताकी ही सीमामें बढ़ता और पोषित होता है। यथार्थ ज्ञानके साम्राज्यमें दूरदर्शिताके द्वारा यह रोग पहचाना जा सकता है और सन्तोषरूपी महौषधिसे ही इसकी निवृत्ति होती है। जबतक तुम इस तृष्णारूपी रोगसे ग्रस्त हो, तबतक तुम अच्छी-से-अच्छी, अधिक-से-अधिक मात्रामें प्राप्त सुन्दर वस्तुओंको अपने उपयोगमें लाकर व्यर्थ ही करते रहोगे। यह तृष्णारूपी रोग तुम्हारे

अज्ञान और अदूरदर्शिताके कारण ही पीछे पड़ा है। जिस शक्तिके द्वारा तुम अज्ञान-भूमिमें अदूरदर्शी बनकर विचर रहे हो, उसी शक्तिसे तुम सद्ज्ञानके साम्राज्यमें प्रवेश कर दूरदर्शितासे इस भयानक रोगको देखो और सन्तोषके द्वारा इसे सदाके लिये मिटा दो।

जब तुम सन्तोषका सेवन करने लगोगे, तब तुम्हें उतनेसे ही तृप्ति और तुष्टि प्राप्त होगी, जितना तुम्हें सुलभतापूर्वक प्राप्त है। जो अज्ञानी और अदूरदर्शी हैं, वे ही धन और सांसारिक पदार्थोंमें सुख-शान्ति खोजते हैं और अधिक-से-अधिक प्राप्तकर लोभ, मोह, अभिमान और क्रोध आदि दुर्विकारोंसे अपने आपको प्रभावित पाते हैं। केवल सन्तोष धारण करनेवाले बुद्धिमान् पुरुष ही ऐसे हैं जो सांसारिक पदार्थोंके लोभी, मोही और अभिमानी मनुष्योंकी दुर्दशा अच्छी तरह देख पाते हैं; इसीलिये वे दरिद्र नहीं होते हैं। अधिक-से-अधिक संचय करनेमें अपनी शक्तिका दुरुपयोग नहीं करते हैं और न भारवाही बनकर पराधीनताका बोझा ढोते चलते हैं।

जो कुछ परवश है, उसके प्रति तुम्हें सन्तोष ही करना चाहिये; परंतु जो स्ववश है, उसकी प्राप्तिके लिये निरन्तर प्रयत्न करना चाहिये। स्ववश वस्तुकी प्राप्तिमें स्वाधीनता रहती है, जो तुम्हारे अधिकारमें है और तुमसे उत्पन्न हुआ है, वह स्ववश है। अपने आपसे अतिरिक्त जो कुछ भी है, वह परवश है। शरीरादि सांसारिक पदार्थों और सम्बन्धियोंमें न तो तुम्हारा अधिकार है और न वे तुमसे उत्पन्न हुए हैं, केवल माना हुआ अधिकार या सम्बन्ध है, इसलिये इनके संयोग-वियोगमें सन्तोष रखना तुम्हारी बुद्धिमत्ता है।

सन्तोषी ही योग-मार्गमें जाता है, असन्तोषी भोग-मार्गमें घूमता रहता है। सन्तोषी समस्त सांसारिक इच्छाओंकी निवृत्तिमें स्थायी शान्ति देखता है, असन्तोषी अनेक इच्छाओंकी पूर्तिमें सुख मानता है। उसके प्रत्येक सुखका अन्त दुःखमें ही होता रहता है। सन्तोषी शान्ति पाता है, असन्तोषी सुख-दुःखके बन्धनमें विवश रहता है। सच्चा सन्तोषी समुद्रकी तरह उदार होता है, असन्तोषी सदा दरिद्र बना रहता है। सन्तोषी पुरुष संतपदको प्राप्त होता है; जब उसके पास कुछ नहीं रह जाता, तब परम प्रभुको धन्यवाद देता है और जब उसके पास कुछ होता है तो उदारतापूर्वक अभावग्रस्त लोगोंकी सेवा करता है। सन्तोषी पुरुष आर्थिक आपत्ति आनेपर उसी तरह प्रसन्न होता है जिस तरह भोगासक्त लोभी सम्पत्ति पाकर फूला नहीं समाता है।

जब कभी तुम्हें बहुत अधिक दुःख दीख पड़े, तब सन्तोष और धैर्य धारण करो, यह सोच लो कि ऐसा कोई भी दुःख नहीं है, जिससे अधिक दुःख न हो। जिसके अभावका ज्ञान होता है, वही उत्पत्ति और विनाशवाली वस्तु है, चिन्मात्रस्वरूप आत्माके अतिरिक्त अन्य सभी वस्तुका अभाव-ज्ञान होता है। इसलिये अपनेसे भिन्न सभी अभाव और विनाशकी वस्तु हैं। जो स्वात्मामें सन्तुष्ट है, वही योगानुभवमें सन्तोष और इच्छा-निवृत्तिका दर्शन करता है।

तुम नित्य एकरस आनन्दस्वरूप चित्-सत्ताको जानो, उसके अनन्त ऐश्वर्य और माधुर्यका सर्वत्र अनुभव करो। तुम्हें कहीं भी असन्तोष न होगा। यह भी ध्यान रक्खो कि परमार्थके पथमें चलते हुए धर्म-पालन, साधन और संयममें कभी सन्तोष न करो। आराध्य प्रभुके स्मरण-चिन्तन और ध्यानमें सन्तोष कर प्रपञ्चमें न उलझे रहो, अपितु सांसारिक लाभ और सुख-भोगमें सन्तोष करो, ऐसा करनेसे परमार्थ-पथमें—शान्ति-लाभमें सफल हो सकोगे।

सकाम उपासना

(लेखक—श्रीपरिपूर्णानन्दजी वर्मा)

'आस्तिकको कष्ट' और 'क्या करें' शीर्षक मेरे दो लेखोंने जैसे 'कल्याण'के सहृदय पाठकोंको उलझनमें डाल दिया हो—मेरे पास उनपर बड़ी रोचक तथा भावुक आलोचनाएँ आयीं और अमीतक आती जा रही हैं। एक भक्तने लिखा है—

'क्या करें'में आपने प्रश्न किया है कि 'आस्तिक क्या करे। पर उत्तर न देकर आप स्वयं प्रश्न कर बैठे और आपसे उत्तर ठीकसे न सूझ पड़ा।'

मैं स्वीकार करता हूँ कि उत्तर मुझे नहीं सूझ पड़ता। आस्तिक कष्टमें है–रहेगा। वास्तविक विद्वान् बड़े दुःखमें है—और रहेगा। यह सब क्यों? क्या परमात्माके घर न्याय नहीं है। क्या पूजा-पाठका परिणाम दुःख ही है? यही सब सवाल मैं भी अपनेसे करता हूँ। पर, इसीके सिलसिलेमें एक मिसाल याद आ गयी। अभी ताजी घटना है। प्रान्तके एक बड़े भारी अधिकारीने अपना संकट दूर करनेके लिये पूजा-पाठकी शरण ली। वे नास्तिकसे आस्तिक बन गये। घनघोर पूजा चलने लगी। व्रत, उपवास, हवन आदिके साथ अच्छे कर्मकाण्डी भी बुलाये गये और मैं जानता हूँ कि पैसेके लालचसे नहीं; केवल उनकी सहायताकी भावनासे, उनके कल्याणके लिये ही, अच्छे लोग पूजा-पाठमें शरीक हो गये। पर, परिणाम एकदम उल्टा हुआ। जो न होना चाहिये था, वही हुआ। पूजा-पाठ बेकार रहा। फल यह हुआ कि हवनकुण्डमें पानी पड़ गया। पाठकी पोथी फेंक दी गयी। पण्डितलोग शायद भगा ही दिये गये। निर्णय हुआ कि 'यह सब पाखण्ड है। ईश्वर नहीं है।'

इस घटनाके समय मुझे एकाएक अपने गुरुका उपदेश याद आ गया। वे एक बार मुझसे कहने लगे—

'बेटा! एक बात ध्यानमें रखना। कभी सकाम उपासना मत करना। देवताको कष्ट देना अपराध है। सकाम उपासनासे अश्रद्धा पैदा होती है।'

किंतु, कुछ तो हमारे पथ-प्रदर्शकोंके दोषसे, कुछ हमारे नैतिक पतनके कारण आज सकाम उपासनाका रोग फैल गया है। हिंदू-धर्म शायद अपना सब कुछ भूलकर सकाम उपासनामें ही सिकुड़ गया है। जैसे आज हमारे लिये सब कुछ स्वार्थके ही लिये है, वैसे हमारा भगवान् भी हमको रोटी, कपड़ा, लड़का, सभी यानी संसारका सब वैभव देनेके लिये है। हम यह भूल जाते हैं कि यदि वह सर्वज्ञ है तो हमको जो चाहिये, वह जानता है। यदि वह दयामय है तो जो कुछ हमारे लिये कर सकेगा, जरूर करेगा। यदि वह ध्यान-व्रतसे प्रसन्न होता है, तो जरूर होगा और जो करता होगा, जरूर करेगा। हम उससे कहने क्यों जाते हैं। वह बहरा या अंधा नहीं है। असल बात यह है कि हमारा विश्वास ही नीच श्रेणीका है। वह ठोस तथा विशाल नहीं है।

(२)

हम कैसे यह कल्पना कर लें कि किसी प्रकारकी पूजा भी बेकार हो सकती है। वह पराशक्ति यह जानती है कि क्या चीज हमारे हितकी है और क्या नहीं। बच्चा अपनी माके पास बैठकर जलती हुई लकड़ी खेलनेके लिये मचल जाता है। मा नहीं देती बच्चेका कल्याण सोचकर। हम भगवान्से जो माँग रहे हैं, वह हमारे कल्याणमें सहायक नहीं हो सकता। आगे चलकर वही हमारे लिये घातक सिद्ध हो सकता है।

देशबन्धु डा० राजेन्द्रप्रसादजीने अपनी आत्मकथामें लिखा है कि वे बी० ए० पास करके चुपचाप विलायत जाना चाहते थे—आई० सी० एस०की परीक्षामें बैठनेके लिये। सब कुछ तैयारी चुपचाप कर ली। एक दिन एक बूढ़े ज्योतिषीके पास गये। उसने बिना उनका प्रश्न सुने ही कह दिया कि 'जो तुम चाहते हो, वह अभी नहीं होगा।' युवक राजेन्द्र उस बूढ़ेकी मूर्खतापर हँस पड़े। जब सब तैयारी हो चुकी थी तो 'न होने'का क्या सवाल था। एकाएक उनके पिताजीको उनके विलायत जानेका समाचार मिला। राजेन्द्र बाबू तार देकर बुलाये गये। पिता-माता रोने लगे। जाना तो टल गया पर राजेन्द्र बाबू बड़े दुखी हुए। पर कुछ ही महीने बाद उनके पिताका देहान्त उनके सामने हो गया। तब उन्होंने ईश्वरको धन्यवाद दिया कि वे विलायत न गये, अपने पिताका अन्तिम दर्शन कर सके। और हम भी भगवान्को धन्यवाद देते हैं कि वे विलायत न गये। आई० सी० एस० पास राजेन्द्र बाबू इस समय कहीं किसी जिलेके कलक्टर रहकर 'रिटायर' हुए होते। पर देशको देशरत्न राजेन्द्र बाबूकी आवश्यकता थी। नियति तथा पराशक्ति इसी प्रकार हमसे काम लेती है। हम जो करना चाहते हैं, वह नहीं होता। वह जो कराना चाहती है या हमारा कर्म जो कराना चाहता है, वही होता है। अतः बिना उस महाप्रभुकी इच्छाको समझे उसे कैसे दोष दिया जाय। व्रत, नियम, तप, पाठ—सबका फल जरूर मिलता है। पर फलका निर्णय हमारे हाथमें न होकर महाप्रभुके हाथमें होता है।

(३)

पर-तत्त्वसे, इच्छाशक्तिके योगसे आविर्भूत होनेवाला तत्त्व पुरुष कहलाता है। वह शिवका अंशरूप है। कला, विद्या, राग, काल और नियति—इन पाँच कंचुकोंसे आवृत

होनेके कारण ही पुरुषको राग, द्वेष, सुख, दुःख, अज्ञान आदि भावोंमें पड़े रहना पड़ता है। इसीलिये उसे मायारूपी मलसे ढँका हुआ कहते हैं। वह जो थोड़ा-बहुत काम करता है, वही कला-तत्त्व है। इसी प्रकार अल्पज्ञान, विषयोंमें प्रीति आदि उसके साथ लग जाते हैं। तब वह नियतिके चक्करमें पड़ जाता है। कृत्य-अकृत्यमें नियमपूर्वक जो शक्ति नियमन करती है, वही नियति कहलाती है। इस प्रकार बन्धनमय दुखी प्राणीको सुख-दुःखका आभास होता रहेगा। क्या असली सुख है, वह जानता ही नहीं। वह तो—

अविद्यायां तु यत्किञ्चित् प्रतिबिम्बं नगाधिपः।
तदेव जीवसंज्ञः स्यात् सर्वदुःखसमाश्रयः॥
(दे० भा० स्कं० ७। ३१)

जब जीव अपना असली सुख ही नहीं जानता, जब उसको यह पता ही नहीं है कि सुखका वास्तविक रूप क्या है तो जिसे वह सुख मानकर पीछे भाग रहा है उसका मिलना ही उसे ठीक जँचे; पर भगवान् उसकी सहायता करनेके लिये उसे खींचकर दूसरे मार्गपर ले जा रहा है—ऐसा क्यों न समझ लिया जाय!

इसी भावका उपार्जन करनेमें हमारा कल्याण होगा। हमको मायाका बन्धन काटकर शिवकी शरण लेनी होगी। शिव और शक्तिका एकीकरण करना होगा। तभी हम अपना मार्ग प्रशस्त कर सकेंगे।

सगुणा निर्गुणा चाहं समये शङ्करोत्तमा।
यदाहं कारणं शम्भो न कार्यं कदाचन॥
(दे० भा० ३। ६)

न शिवेन विना देवी न देव्या च विना शिवः।

इस भावको ग्रहण कर जब हम आगे बढ़ेंगे या जब हम अपने स्वार्थको 'समरस' करना सीख जायँगे तब हमें कष्टको 'तमाशा' समझनेका अवसर मिलेगा। जिस पशुशक्तिको ही हम सब कुछ मान बैठे हैं और जिसको त्यागनेका नाम भी नहीं लेते, उसका प्रपञ्च ही हमारी विपदाओंकी जड़ है। शाक्त लोग इसीके निवारणके लिये शुद्ध तत्त्वकी खोजकी सलाह देते हैं और शिवसूत्रमें इसीको 'शुद्धतत्त्वसंधानाद्वा पशुशक्तिः' लिखा है।

मुण्डकोपनिषद्में प्रश्न किया गया है कि वह कौन-सी वस्तु या तत्त्व है जिसको जाननेसे सब कुछ जाना जा सकता है। उत्तर होगा ब्रह्म, पर हम इस जगत्के प्राणी ब्रह्मके माया-रूपको ही जानते हैं। मायासे परेवाले उसके रूपको नहीं जानते। इसी मायाके विषयमें महाभारतमें कहा है—

माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद।
सर्वभूतगुणैर्युक्तं मां नैवं ज्ञातुमर्हसि॥

यानी 'ब्रह्मकी अनेकता मायासे ही मालूम होती है। वास्तवमें तो वह एकरस तथा सर्वथा शुद्ध है।' यदि हमको अपना कल्याण अभीष्ट है तो हमें जगत्के इस मायारूपी फंदेको पहचानना चाहिये तथा शक्तिके साथ शिवको मिलाकर तब अपना संकल्प निश्चित करना चाहिये। तभी हम यह जान सकेंगे कि जिसे हम अपना लाभ समझ रहे हैं, वही हमारी हानिका कारण, स्रोत तथा आधार है। नियति जो करती है, हमारे हितमें होता है।*

---

* इससे सिद्ध है जिन्होंने पूजापाठ करवाया था उनकी पूजापाठमें वास्तविक श्रद्धा नहीं थी। श्रद्धा होती तो अनुकूल फल न मिलनेपर 'यह सब पाखण्ड है। ईश्वर नहीं है।' ऐसा कहनेका अवसर ही नहीं आता। और जहाँ श्रद्धा नहीं वहाँ सिद्धि कैसे हो सकती है?

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्। असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥ (गीता १७। २८)

भगवान्ने कहा है कि बिना श्रद्धाके किया हुआ हवन, दान, तप या अन्य कोई भी कर्म सब असत् कहलाता है इससे इस लोक और परलोकमें कोई लाभ नहीं होता।'

यह सत्य है कि प्रतिबन्धकके अनुसार ही सकाम कर्म सफल होता है। प्रतिबन्धक प्रबल होता है तो विलम्ब होता है तथा अधिक कर्मकी आवश्यकता होती है। प्रतिबन्धक हल्का होता है तो थोड़े-से कर्मसे ही काम चल जाता है और फल प्रकट हो जाता है, परंतु यह होता है श्रद्धा-भक्ति और विधिपूर्वक कर्म सम्पन्न होनेपर ही। एक बार कर्म सफल नहीं होता तो इसका अर्थ श्रद्धालु कभी यह नहीं मानता कर्म व्यर्थ है। वह और भी श्रद्धासे कर्मका विस्तार करता है। तथापि यह सत्य है कि विश्वास और श्रद्धाकी कमीसे सकाम कर्म करनेमें सफलता न मिलनेपर और भी अश्रद्धा हो जाती है। सकाम कर्ममें भी बड़े विश्वास और श्रद्धाकी आवश्यकता होती है, जरा भी सन्देह आया कि गड़बड़ी हो जाती है। इसलिये सकाम भावसे कर्म करनेकी अपेक्षा निष्काम भावसे करना उत्तम है।

भगवान् सब कुछ जानते ही हैं। अपने-आप ही हमारा मनोरथ पूर्ण करेंगे। यह भी सकाम भाव ही है। भगवान् जो कुछ करते हैं, मङ्गल ही करते हैं। यह भाव बहुत उत्तम है। सर्वोत्तम भाव तो यह है कि जिसमें किसी भी लौकिक वस्तुकी कामना हो ही नहीं। शास्त्रीय कर्म सब यथायोग्य अवश्य किये जायँ पर सबका फल एक ही चाहा जाय—'भगवच्चरणोंमें अहैतुक प्रेम।'—सम्पादक

भारतीय संस्कृतिका महान् विचारक श्रीदाराशिकोह

(लेखक—श्रीसीतारामजी सहगल)

मुस्लिम शासनकालमें कई दार्शनिक साहित्यिक तथा समाज-सुधारक हुए हैं जिन्होंने जन-संस्कृतिको समझनेके लिये अनेक प्रशस्य प्रयास किये। यद्यपि उस कालमें सम्प्रदायोंका जोर था और धर्मके नामपर हलाहल विष भी पैदा किया जाता था तथापि जैसे शङ्करसदृश देवता प्रकट हुए, हलाहल विष पी लिया और संसारको शाश्वत शान्ति प्रदान की। वैसे ही मुस्लिम राजपरिवारमें एक ऐसे व्यक्तिने जन्म लिया, जिसने हिंदू-मुस्लिम-समस्याका गम्भीर अध्ययन किया और दोनों नदियोंको एक महानदीमें परिवर्तित करनेके लिये विराट् यत्न किया। इतिहासके आँचलमें छिपे हुए ऐसे बादशाह शाहजहाँके सुपुत्र श्रीदाराशिकोह थे।

राजकुमार शिकोहने हिंदुस्तानमें साम्प्रदायिकताको जड़से उखाड़नेके लिये एक महत्त्वपूर्ण योजना सोची; यह थी संस्कृतिके आधारपर साम्प्रदायिक एकता। उसने गम्भीरतासे सोचनेके बाद भारतीय साहित्यका अध्ययन किया। वह उसे पढ़कर इतना मुग्ध हुआ कि उसने सर्वप्रथम ज्ञानकी स्रोत उपनिषदोंका फारसी भाषामें अनुवाद किया। उसने भारतीय हृदयको समझनेका सच्चा प्रयास किया और उसे कुसुमसे भी कोमल पाया। इसने स्वयं संस्कृत भाषाकी गवेषणा की। उसपर जादू-सा प्रभाव हुआ। उसने उपनिषदोंके अनुवादके अतिरिक्त भगवद्गीता, योगवासिष्ठ तथा प्रबोध-चन्द्रोदय—इन तीन ग्रन्थ-रत्नोंका भी अनुवाद किया।

भारतीय अद्वैतमतकी तरफ भी उसकी विशेष रुचि बढ़ी। मियाँ मीरसे उसने सूफी मतके सिद्धान्तोंको भी सीखा। वह अपने समयके हिंदू-मुस्लिम विचारकोंसे प्रायः मिलता रहता और साम्प्रदायिक शान्तिके लिये उसने एक धर्मकी योजना सोची।

दाराशिकोह एक गम्भीर विद्वान् था। जैसा उसका हृदय-पटल शुद्ध था वैसा उसका मस्तिष्क भी स्वच्छ था। वह दूसरोंके विचारोंको अपने अनुभवसे परखकर अपनाता था। वह एकताका उदार दूत था। कुरानके कई स्थलोंपर उसके मार्मिक सुझाव कुरानके विशेषज्ञोंको भी सन्देहसे उभार देते थे। वे राजकुमारकी मौलिकतापर लट्टू हो जाते थे। वह अपने प्रपितामहकी तरह लकीरका फकीर न था। वह मौलिक और उदार विचारक था। उसने नैतिक और आध्यात्मिक विकासके लिये कई ग्रन्थ लिखे। सबसे उत्तम रचनाका नाम है 'धर्मोंका तुलनात्मक अध्ययन'। इसमें उसने ग्रन्थोंके शुष्क संदर्भोंको स्थान नहीं दिया, अपितु अपने अनुभवसे शुद्ध सत्यका निरूपण किया है। उसके गुरु मुल्लाशाहने उसे आशीर्वादमें कहा था—'तुम विश्वमें सब धर्मोंकी एकताके लिये पैदा हुए हो और इसीके लिये तुम अपना जीवन लगाओगे।'

गवेषकोंने बताया है कि उसने पच्चीस वर्षकी आयुमें ग्यारह संतोंकी जीवनी और उनकी अनुपम लीलाएँ लिखीं। उसके बाद सूफीमतके सुभाषितोंका एक दिव्य संग्रह किया। बर्निअर नामक ईसाई यात्रीने लिखा है कि वह ईसाइयोंके साथ ईसाई, पण्डितोंके साथ पण्डित तथा सूफियोंके साथ सूफी बन जाता था। वह मिश्रीकी तरह मिश्रित हो जाता था। उसकी एकमात्र उपासना थी मानवता। दाराने कई संतोंके साथ सम्पर्क बढ़ानेके लिये पत्र लिखे हैं जिसमें उसने सब धर्मोंका मान किया है। हिंदू संन्यासी गोस्वामी नृसिंहाभय सरस्वतीको एक पत्र लिखा है जिसमें 'ॐ नमो नारायणाय' पदोंसे नमस्कारपूर्वक अपना निवेदन किया है। श्रीबाबा लालनामक यतिकी प्रशंसामें दाराने कई मार्मिक शब्द लिखे हैं। इसपर एक संवाद भी ग्रन्थरूपमें लिखा गया है।

हिंदू संतोंके सम्पर्क और उनके हृदयग्राही विचारोंको मूर्तरूप देनेके लिये उसने हिंदू और मुस्लिम धर्मोंका एक तुलनात्मक ग्रन्थ लिखा। इसे फारसीमें मज्म-उल्-बाहरीन नामसे लिखा गया। इस ग्रन्थका उसने संस्कृत भाषान्तर भी किया था। जिसका नाम 'समुद्रसंगम' है, इसकी उपलब्धि हालमें ही हुई है। इसके दो हस्तलिखित ग्रन्थ एक अनूप संस्कृत पुस्तकालय बीकानेरमें और दूसरा भाण्डारकर ओरियंटल रिसर्च इंस्टीच्यूटमें पाये गये हैं।

हिंदू-मुस्लिम-संस्कृतिकी समस्यापर दाराद्वारा लिखित ग्रन्थ उपादेय और मननके योग्य हैं। इसमें सोलह भिन्न-भिन्न विषयोंपर प्रकाश डाला गया है। पहलेमें पाँच भूतोंका वर्णन है। दूसरे और तीसरेमें क्रमशः पञ्चेन्द्रिय तथा ध्यानका निरूपण किया गया है। चौथेमें परमेश्वर-गुणव्याख्या, पाँचवेंमें आत्मनिरूपण, छठेमें प्राणादिनिरूपण, सातवेंमें प्राणादिकी व्याख्या, आठवेंमें प्रकाश, नवेंमें ईश्वर-दर्शन तथा दसवेंमें ईश्वर-

के नाम हैं। इसी तरह ग्यारहवेंमें सिद्धत्व ऋषि तथा ईश्वरत्वका वर्णन, बारहवें, तेरहवें तथा चौदहवेंमें क्रमशः दिशा, पृथ्वी और महाप्रलयका निरूपण किया गया है। पंद्रहवेंमें मुक्तिका सारगर्भित वर्णन है और सोलहवेंमें अहोरात्र और ब्रह्मका मौलिक निरूपण है।

ग्रन्थकी भूमिकामें परम विद्वान् दाराने अपनी प्रेरणाका मूल कारण लिखा है। इसके कुछ नमूने प्रस्तुत किये जाते हैं, जिससे उसकी सच्ची अनुभूतिका ज्ञान हो सकता है।

ग्रन्थके आदिमें लिखा है कि 'ज्ञानपिपासाको शान्त करनेके लिये मैं अनेक यतियोंको मिला था और मुझे गुरुवर बाबा लालकी असीम कृपासे तपस्या और ज्ञानमें सिद्धि प्राप्त हुई, बाबा लालके साथ मैंने कई बार हिंदू-मुस्लिम-धर्मोंपर बातचीत की। केवल परिभाषा-भेदको छोड़कर दोनोंके स्वरूपमें कोई भेद नहीं।'

'उन बाबा लालके साथ मैंने कई बार सम्पर्क तथा बातचीत भी की; परंतु परिभाषाओंके भेदके अतिरिक्त स्वरूपकी प्राप्तिमें किसी भेदको नहीं देखा।'

तेन च सह पुनः पुनः संगतीः गोष्ठीश्चाकरवं परिभाषाभेदातिरिक्तं कमपि भेदं स्वरूपा वाप्तौ नापश्यम्।

'इसलिये दोनों धर्मोंकी एकवाक्यताको दिखाया। दोनों ज्ञानियोंके मतरूपी समुद्रका संगम एक साथ करनेसे इसका नाम मैंने समुद्रसंगम रक्खा।'

अतश्च द्वयोरपि एकवाक्यतामकरवम्। ज्ञानिनोर्द्वयोरपि मतसमुद्रयोरिह संगम इति नाम चास्थापयं समुद्रसंगम इति।

'तत्त्ववेत्ताओंका मत है कि सब धर्मोंका एक उद्देश्य सत्यकी खोज है। सचाईकी खोज सरल नहीं, यह ज्ञानियोंका अनुमत ही है। कुण्ठित मतिवाले लोग धर्मकी गहराईको क्या समझ सकते हैं। मेरा प्रयास जिज्ञासुओंके लिये ही है। मुझे सत्यके आलोकका दर्शन जिस दशासे दीखता है मैं उस ओर भागता हूँ। भगवान् ही एकमात्र मेरा सहाय है।'

अत्र च परमेश्वरादेव मम सामर्थ्यं परमेश्वर एव मम सहायः।

हिंदू-मुस्लिम-समस्याको मानवताकी कसौटीपर कसनेका यह सर्वप्रथम प्रयास था और वह भी राजपरिवारके मुस्लिम-कुमारद्वारा।

कामना

(रचयिता—श्रीजयनारायण मल्लिक, एम्० ए०,
साहित्याचार्य, साहित्यालङ्कार)

सागर-तटपर बैठी हूँ कबसे मैं नाथ ! अकेली,
चले गये मेरे जितने थे बान्धव, सखी, सहेली।
तरल-तरंगमयी लहराती भव-वारिधि-जल-धारा,
दूर गगनमें चमक रहा है मार्ग-प्रदर्शक तारा॥
प्राणेश्वर ! करुणानिधि ! हूँ मैं तेरे चरणोंकी दासी,
तेरे चरण-कमल-रजकी हूँ देव ! सदासे मैं प्यासी।
हूँ मैं कुटियाकी भिखारिणी ! तुम हो त्रिभुवनके स्वामी,
मेरे हृदयंगत भावोंके प्रभु ! तुम हो अन्तर्यामी॥
जीवन-नौका जीर्ण पड़ी है, उठती प्रबल बयार,
कैसे पहुँचेगी वह तेरे स्वर्ण-धामके द्वार ?
स्वामी मेरे ! चलो मुझे ले, इस अज्ञात सिन्धुके पार,
जहाँ न होगी अन्तस्तलमें माया-वीणाकी झंकार।
तेरे पद-जलसे प्रक्षालित हो जावे जीवन मेरा,
आत्मोत्सर्ग करूँ भगवत्सेवामें हो यह व्रत मेरा॥

पतिव्रताकी परीक्षा

[कहानी]

(लेखक—स्वामी श्रीपारसनाथजी सरस्वती)

कलकत्ताके प्रेसीडेंसी कालेजमें जब शरद बाबू एम्० ए० में पढ़ते थे, तब मिस रोज नामकी एक यूरोपियन लड़की बी० ए० में पढ़ती थी। शरद बाबू उसपर आकर्षित हो गये और वह भी उनको चाहने लगी थी। सहशिक्षाका यह अनिवार्य परिणाम है। सालभर बाद मिस रोजके पिता, जो कि एक व्यापारी फर्ममें मैनेजर थे, पेंशन लेकर लंदन चले गये और मिस रोज भी उनके साथ चली गयी। उसी साल शरद बाबूने एम्० ए० पास किया और उनका विवाह सुशीला नामकी एक शिक्षिता तथा सुन्दरी कन्यासे हो गया। विवाहके बाद वे इंजीनियरी पढ़ने लंदन चले गये। मिस रोजका पत्र-व्यवहार जारी ही था, अतएव शरद बाबूको उसका पता ज्ञात था। लंदन जाकर वे दोनों फिर प्रेमका झूला झूलने लगे। एक साल बाद शरदने अपनेको कुआँरा बताकर, मिस रोजके साथ बाकायदा गिरजेमें विवाह कर लिया। विवाह रजिस्ट्री हो गया। दोनोंका एक साथ फोटो खींचा गया और चित्रपर विवाहकी तारीख लिख दी गयी। इंजीनियरी पास करके मि० शरदचन्द्र घोष अपनी गोरी पत्नी रोजको साथ लेकर कलकत्ते आये। उन्होंने अपने बहू बाजारवाले मकानपर रहना पसंद नहीं किया और बालीगंजमें एक बँगला खरीदकर मिस रोजके साथ वहीं रहने लगे।

शरद बाबू प्रतिमास एक सप्ताह अपने घरपर अपनी पहली स्त्री सुशीलाके पास रहते थे। इसके लिये वे मिस रोजसे बहाना बनाते थे। कभी कहते सोनपुरका पुल कमजोर हो गया है—उसके निरीक्षणका हुकम आया है। कभी कहते बम्बईमें काम है। और कभी कहते कि काशी विश्वविद्यालय-का साइंसवाला कमरा बनवाना है। बेचारी रोज उनके बहानोंको सच मान लेती थी। एक सप्ताह बाद जब वे रोजके पास आते तो कुछ-न-कुछ सौगात लाते, कि जिससे रोजको उनके बाहर जानेका निश्चय बना रहता था।

मिथ्याकी आयु दीर्घ नहीं होती। जालसाजी बहुत दिनों नहीं चलती। धोखा भी एक दिन धोखा देता है। एक बार शरदबाबू यह बहाना करके अपने पुराने मकानपर चले गये कि वे लखनऊके नये स्टेशनका नक्शा बनवाने लखनऊ जा रहे हैं। एक सप्ताह बाद लौटनेका वादा कर गये। तीसरे दिन मिस रोजके खानसामाने शामको मिस रोजसे कहा—

खानसामा—हजूर! आज चित्तरञ्जन रोडपर मैंने इंजीनियर साहबको एक सफेद मोटरपर जाते देखा है।

रोज—उनके साथ कोई था?

खान०—एक अत्यन्त सुन्दरी बंगालिन महिला भी साथ थी। दोनों घुल-मिलकर बातें करते और हँसते हुए जा रहे थे।

रोज—तुमको धोखा हुआ होगा। कोई दूसरा होगा।

खान०—जी नहीं सरकार! वही चश्मा, वही कोट और वही टोप। वे मेरे पाससे गुजर गये थे। मैंने उनको देख लिया, परंतु उन्होंने मुझे नहीं देखा था।

रोज—तुमने उनका चेहरा नहीं देखा था?

खान०—देखा था। खूब अच्छी तरह देखा था। उनकी मुसकराहटको भी मैं पहचानता हूँ। मुझसे गलती नहीं हुई।

रोज—अच्छा उनको आने दो। मैं तहकीकात करूँगी।

एक सप्ताह बाद शरदबाबू आ गये। श्रीमती रोजके लिये लखनऊके खरबूजे लाये। लखनऊ स्टेशनका नक्शा कैसा बनाया गया, वह भी उन्होंने समझाया। रोजने सोचा कि अवश्य ही खानसामा धोखा खा गया। शरदबाबू उसे धोखा नहीं देंगे। वह बात आयी गयी हुई।

× × ×

जब रोज कलकत्तेमें थी, उस समय उसके साथ नीरजा नामक एक बंगालिन लड़की पढ़ती थी। दोनोंमें मित्रता हो गयी थी। एक दिन उसके यहाँ मित्रोंकी चाय-पार्टी थी। उसने रोजको भी निमन्त्रण भेजा था। रोज आयी और नीरजाके साथ, फाटकपर खड़ी होकर आगतोंका स्वागत करने लगी।

नीरजा—जब आप लंदन चली गयी थीं, तब मेरा विवाह पटनेके एक बंगाली डाक्टरसे हो गया था। अब उनका तबादला कलकत्तेमें हो आया है। उस दिन मैंने आपको फल-बाजारमें देखा तो आपको भी पार्टीका निमन्त्रण दे आयी थी। परंतु जल्दीमें होनेके कारण आपसे बातचीत न कर सकी। यह बताइये कि अब आप कलकत्तेमें किस सिलसिलेसे आयी हैं?

रोजने अपने विवाहकी बात छिपायी। उसने बहाना बनाकर कहा—

राज—मैं क्रिश्चियन गर्ल्स स्कूलकी प्रधानाध्यापिका होकर आयी हूँ।

नीरजा—बड़ी खुशीकी बात है। तब तो कभी-कभी आपसे भेंट हुआ करेगी।

रोज—अवश्य।

नीरजा—आपने लंदनसे एम्० ए० किया होगा?

राज—जी हाँ।

तबतक एक सफेद मोटर आयी और एक अत्यन्त भोली-भाली सुन्दर महिला उससे उतरी।

नीरजा—देखिये श्रीमती रोज! आपका शुभ नाम है सुशीला कुमारी। ये समस्त गुणोंकी निधान महिला हैं। इन-सी सती, सुशीला और विदुषी स्त्री इस विशाल नगरीमें खोजनेसे भी न मिलेगी। लंदनसे इंजीनियरी पास करनेवाले श्रीशरदचन्द्र घोषकी ये विवाहिता धर्मपत्नी हैं। पीली साड़ी कैसी भली मालूम हो रही है। मानो, वसन्तका अन्त इनके ऊपर ही हो गया है।

रोज सन्नाटेमें आ गयी। वह एकटक सुशीलाको देखने लगी। सुशीलाकी मुसकान उसे जहरका इंजक्शन देने लगी। खानसामावाली बात उसे याद आ गयी। वही सफेद मोटर और वही बंगाली महिला।

× × × ×

चायपार्टीके कामसे निपटकर जब रोज बँगलेपर पहुँची, तो शरद बाबूको कमरेमें बैठे इंतजार करते पाया। वह भी अनमनी-सी एक चेयरपर बैठ गयी।

शरद—प्रिये! इस समय मैं आपको शोकाकुल क्यों देख रहा हूँ? क्या पार्टीमें कोई दुर्घटना हुई थी?

रोज—अवश्य ही वहाँ एक घटना घटी थी।

शरद—वह क्या?

रोज—उसका सम्बन्ध आपसे है।

शरद—मुझसे?

रोज—जी।

शरद—वह क्या?

रोज—सुशीलाकुमारी आपकी कौन है?

शरद—कोई नहीं।

रोज—आप यह बात अदालतमें भी कह सकते हैं?

शरद—हाँ।

रोज—कहना। मैं जा रही हूँ। अपनी मित्र नीरजाके मकानपर ठहरूँगी। आपपर ४२० चलाऊँगी। आपको तलाक भी दे दूँगी।

शरद—क्यों?

रोज—क्योंकि सुशीला आपकी विवाहिता स्त्री है। आपने कुआँरा बनकर मेरे साथ शादी की है। आपने ४२० किया है।

शरद—यह भ्रम किसने डाल दिया? सुशीला मेरी कोई नहीं। मैं उसे जानता भी नहीं। यह सम्भव है कि उसके पतिका भी नाम वही हो कि जो मेरा है।

रोज—देखिये मि० शरद! अंग्रेजकी कौम—प्रेम करना भी जानती है और वैर करना भी। हमलोग जान देना जानते हैं तो जान लेना भी जानते हैं। आपने कभी मेरी परीक्षा ली ही नहीं। यदि जानकी बाजी भी लगानी पड़ती तो भी मैं प्रेमपरीक्षामें पास होनेकी कोशिश करती। आप प्रेमपरीक्षामें फेल हुए हैं।

शरद—गलती इंसानसे ही होती है। यदि प्रेमके कारण मैंने धोखा भी दिया हो तो वह क्षम्य है।

रोज—जी नहीं। प्रेम कईसे नहीं होता। वह वासना है—प्रेम नहीं।

शरद—मुझे क्षमा न करोगी?

रोज—अपना अपराध स्वीकार है?

शरद—स्वीकार है।

रोज—इसका प्रतिकार करो।

शरद—करूँगा। कैसे करूँ?

रोज—या सुशीलाको तलाक दो या रोजको तलाक दो। एक म्यानमें दो तलवारें नहीं रह सकतीं।

शरद—हमारे यहाँ राजा दशरथने तीन विवाह किये थे।

रोज—तो उस राजाका सर्वनाश भी हो गया होगा!

शरद—रोज!

रोज—कहिये।

शरद—मैं हाथ जोड़ता हूँ। पैरोंपर सिर रखता हूँ। मुझे अदालतमें मत खड़ा करना। मेरी सारी प्रतिष्ठा धूलमें मिल जायगी।

रोज—आपने मेरी प्रतिष्ठा जो धूलमें मिला दी है। बदला मिलेगा।

शरद—तलाक मैं किसीको नहीं देना चाहता। तुम एक लाख जुर्माना कर सकती हो।

रोज—यह असम्भव है। मैं रुपयेकी भूखी नहीं—सभ्यताकी भूखी हूँ।

× × × ×

आज अदालतमें तिलभर भी जगह नहीं है। रोजवाला मुकद्दमा अखबारोंमें छप चुका है। रोजने शरद बाबूपर तलाक और ४२० दो मुकद्दमे चलाये हैं। 'स्टेटसमैन' तथा 'इंगलिशमैन' ने रोजका पक्ष लेकर सम्पादकीय नोट लिखे हैं। मजिस्ट्रेट भी अंग्रेज है। कलकत्ता शहरके सब गण्यमान्य अदालतमें उपस्थित हैं। आज सुशीलाकुमारीकी गवाही होनेवाली है। मुद्दई और मुद्दालेहके कटघरेमें शरद तथा रोज उपस्थित हुए। दोनों पक्षके बैरिष्टर तैयार खड़े हैं।

सुशीलाकुमारीको गवाही देनेके लिये अदालतने बुलाया। मि० शरदचन्द्रपर राहु और केतु दोनोंने चढ़ाई कर दी। उन्होंने सोचा कि, रोजरूपी राहु और सुशीलारूपी केतु—दोनों मुझ शरदके चन्द्रको घेरे खड़े हैं। अब क्या होगा? सुशीलाकी गवाहीसे मुझे तीन सालकी सजा होगी और रोजकी तलाक स्वीकार हो जायगी। यानी दोनों स्त्रियाँ भी हाथसे गयीं और प्रतिष्ठा गयी सो व्याजमें। उसके बाद नौकरी भी रहे या न रहे—इसका भी अंदेशा है। अतएव मेरा मरना निश्चित है। सजा सुनते ही हीरेकी अंगूठी चाट लूँगा। आज शरदबाबूकी लाश इस अदालतसे निकलेगी। हे ईश्वर! आपने बड़े-बड़े सङ्कट दूर किये थे। सुना है कि गजका सङ्कट अथाह और मूक सङ्कट था—जिसे आपने काट डाला था। मैं आपका भक्त तो नहीं हूँ। बल्कि आपकी सत्तामें भी संशय रखता हूँ। एक प्रकारसे मुझे नास्तिक ही समझिये। परंतु आज यदि मेरी प्रतिष्ठा रह जाय—मेरी बात रह जाय तो हे ईश्वर! आपकी प्रतिष्ठा रह जाय—और आपकी भी बात रह जाय! अदालतमें मेरी परीक्षा हो रही है और मेरे हृदयकी अदालतमें ईश्वरकी परीक्षा हो रही है। यदि गजको उबारा था—तो दीनानाथ! आज मुझे भी उबार लीजिये। यदि आज इस अदालतरूपी सागरमेंसे मेरे जीवनका हाथी बच निकला तो आजसे मेरे बराबर आस्तिक कोई न होगा। आपसे आज परिचय हो जायगा। परिचयसे ही प्रेम होता है।

बसन्ती साड़ी पहने सुशीलाकुमारी अदालतमें आयी। उसने एक बार अपने पतिका मलिन मुख देखा और फिर रोजका अभिमानभरा चेहरा देखा—अदालतमें सन्नाटा छा गया।

मजिस्ट्रेटने पूछा—तुम्हारा नाम?

सुशीला—सुशीलाकुमारी।

मजि०—तुम अभियुक्त शरदचन्द्र घोषके मकानमें रहती हो?

सुशीला—जी हाँ।

मजि०—तुम अभियुक्तकी विवाहिता स्त्री हो?

सुशीला—जी नहीं।

मजि०—तो क्या रखेलकी हैसियतसे रहती हो?

सुशीला—जी हाँ।

मजि०—तुमको क्या वेतन मिलता है?

सुशीला—साढ़े तीन सौ मासिक।

मजि०—तुमको यह मालूम है कि शरदबाबूने रोजके साथ बाकायदा विवाह किया है?

सुशीला—जी हाँ।

मजि०—क्या यह ब्याह शरदबाबूने तुम्हारी मंजूरीसे किया था?

सुशीला—जी हाँ।

मजि०—तुमको शरदबाबूकी कोई शिकायत है?

सुशीला—जी नहीं।

मजि०—तुम अब भी उनसे प्रेम करोगी?

सुशीला—जी हाँ।

मजि०—मुकद्दमा खारिज। शरदबाबू ससम्मान बरी किये गये। श्रीमती रोजकी तलाककी दरखास्त खारिज।

× × × ×

अदालतके बाहर भारी गोलमाल

एक बोला—यह है भारतीय संस्कृति! विवाहिता सुशीलाने प्रेमकी परीक्षा किस उत्तमतासे पास की है।

दूसरा बोला—यदि भारतमें नारीकी यह त्यागभावना न रह जाय तो पातिव्रत-धर्म ही मर जाय। फिर ऐसे नयनाभिराम दृश्य कहाँ?

शरदबाबूने हाथ जोड़कर कहा—सज्जनो! सुशीलाने अपनी प्रतिष्ठाका बलिदान करके अपनी प्रतिष्ठा बहुत ही बढ़ा ली है।

रोज—आई सी! प्रेमका सच्चा तत्त्व और उसका व्यवहार तो हिंदू औरत ही जानती है!!

यह विषमता कैसे दूर हो ?

(लेखक—श्रीबलराम भगवानदासजी चौरे)

हम इस संसारपर दृष्टि डालते हैं तो देखते हैं कि कोई मनुष्य सुखी है तो कोई दुखी, कोई नीरोग है तो कोई रोगी, कोई धनी है तो कोई निर्धन, कोई बुद्धिमान् है तो कोई मूर्ख, कोई बलवान् है तो कोई दुर्बल, किसीने बीमारीका नाम नहीं सुना तो कोई एक दिन भी स्वस्थ नहीं रहता, किसीके प्रत्येक अवयव अत्यन्त सुन्दर हैं तो कोई अत्यन्त कुरूप है। इस प्रकार संसारमें सर्वत्र विषमता देखकर मनमें प्रश्न उठता है कि 'आखिर ऐसा क्यों होता है?' क्या कारण है कि जब एक आदमी महलोंमें सुखोपभोग करता है तो उसी समय दूसरा आदमी अपनी टूटी-फूटी झोंपड़ीमें भूखों मरता है? इस प्रकारके प्रश्न स्वभावतः प्रत्येक विचारवान् व्यक्तिके मनमें उदय होते हैं और वह इस विषमतापूर्ण परिस्थितिके कारणोंको खोजने लगता है। वह हर समय सोचता रहता है कि यह भेद-विभेद, यह विषमता संसारसे दूर कैसे हो? आइये हम भी इस विषमताको हटानेके उपायोंपर विचार-विनिमय करें।

जब हम विचार करते हैं तो मालूम होता है कि इस विषमताको दूर करनेके लिये और सबको समानरूपसे सुखी करनेके लिये, क्या भौतिक विज्ञान, क्या अर्थशास्त्र, क्या मनसशास्त्र तथा नाना प्रकारकी राजनीतिक संस्थाएँ (प्रजातन्त्रवाद, साम्यवाद, समाजवाद आदि) भी क्या, सभी अपनी-अपनी विचारधाराओं तथा कार्यप्रणालियों एवं अन्य युक्तियोंसे प्रयत्नशील हैं कि संसारसे यह भेद-विभेद, यह असमानता, यह विषमता दूर हो और यह सब खराबियाँ दूरकर सभी समानरूपसे सुखी हों, संसारके सभी लोग एक-से बनें, कोई दुखी न रहे, कोई बीमार न रहे; कोई गरीब न रहे, सबको समानरूपसे सुख तथा आनन्दकी उपलब्धि हो। यदि हम प्रत्येक ऐसी संस्थाओंकी विचारधाराओंकी जाँच-पड़ताल करेंगे तो हमें यह साफ दीखेगा कि ऐसी सब-की-सब संस्थाएँ अपनी-अपनी शैलियोंसे इन विषमताग्रस्त परिस्थितियोंको सुधारनेमें व्यस्त हैं।

आइये, हम देखें कि इस उलझनको हमारे पुरातन (सनातन) धर्मशास्त्र किस प्रकार सुलझाते हैं? क्योंकि ऐसे बहुत-से लोग आपको मिलेंगे जो उपर्युक्त कथित विचारधाराओंसे इस विषमताको दूर करनेका प्रयत्न नहीं करते और न उनमें विश्वास ही रखते हैं, वरं वे इस समस्याको धर्मशास्त्रके आधारपर सुलझानेका यत्न करते हैं या ऐसे अधिक लोग हैं जो धर्मशास्त्रके द्वारा इसका उपाय ढूँढ़ना चाहते हैं। प्रस्तुत लेख हम ऐसे ही विचारशील और श्रद्धालु व्यक्तियोंके विचारार्थ समर्पित करते हैं जो धर्मशास्त्रके आधारसे संसारकी इस व्यथाको दूर करना चाहते हैं।

इसके लिये सर्वप्रथम हमें यह देखना है कि क्या यह संसारचक्र किसी नियमके अन्तर्गत चल रहा है या अनियमित? यदि कोई विश्ववाहक है तो क्या वह यह सब बखेड़ा मनमाने तौरपर कर रहा है या किसी आधारपर। यदि हम इस बातका पता लगा सकें तो हमें उपर्युक्त कथित उलझनको सुलझानेमें सुविधा रहेगी और संसार-वैषम्यको मिटानेके लिये उपाय भी मिल सकेगा।

इस विश्वमें सर्वश्रेष्ठ हमें सूर्य ही दिखायी पड़ते हैं। जो हम सब लोगोंके सामने हैं, अतः आइये हम इनपर विचार करें। सूर्यपर विचार करनेसे हमें उस नियमका, उस विधानका, जिससे यह संसारचक्र चल रहा है, कुछ पता लग सकेगा। सूर्यको देखनेपर हमें उसमें सर्वथा नियमबद्धता दृष्टिगोचर होती है। सूर्य और नियम दोनों एक मालूम होते हैं। ऐसा कभी भी देखनेमें नहीं आया कि सूर्यकी गति कदाचित् कभी भी अनियमित रही हो। आज वह उदय हुआ हो और कल नहीं। आज वह एक समय उदय हुआ हो और कल दूसरे समय। कभी दो-चार दिन उदय हुआ हो और कभी दो-चार दिन अदृश्य, ऐसी अनियमितता सूर्यमें कभी भी नहीं देखी गयी। सूर्यको देखते ही हमें किसी महान् नियमका भास हो आता है, जिसके अन्तर्गत रहकर वह चालित है। अकेले सूर्य ही क्या, सारे विश्वको यदि हम सूक्ष्म दृष्टिसे देखें तो मालूम होता है कि यह समूचा विश्व किसी नियमके अन्तर्गत चल रहा है। समस्त प्राकृतिक वस्तुएँ नियमबद्ध मालूम होती हैं, अनियमित नहीं। क्या पृथ्वी, क्या ग्रह-तारे, क्या हवा-पानी, क्या वनस्पति, क्या पशु-पक्षी, सब-के-सब किसी नियमके भीतर ही चल रहे हैं—अनियमित नहीं। अणु-परमाणुसे लेकर महान् ग्रहोंतक ही नहीं—अखिल ब्रह्माण्ड भी किसी-न-किसी नियमके ही अन्तर्गत चल रहे हैं। इन सब प्राकृतिक वस्तुओंकी यह नियमबद्धता हम सबके

सामने है, ऐसी स्थितिमें यह प्रश्न उदय होता है कि जब यह समूचा विश्व किसी-न-किसी नियममें आबद्ध होकर चल रहा है तो फिर क्या यह मनुष्य किसी नियममें नहीं बँधा है ? यदि यह मनुष्य भी जो इस विश्व-प्रकृतिका ही एक अङ्ग है और किसी नियमसे आबद्ध होकर चल रहा है तो फिर यह विषमता कैसी ? यह भेद-विभेद कैसे ? क्या प्रकृति किसीपर कृपा और किसीपर रोष रखती है ? क्या विश्वपति किसीको मुक्त करोंसे वैभव प्रदान करते हैं और किसीके लिये उनका हाथ रुक जाता है ? इन सुख-दुःख और भेद-विभेदको देखकर हम सब लोगोंके मनमें स्वाभाविक ही ये प्रश्न उठते हैं। अतः प्राकृतिक उदाहरणोंकी ही मदद लेकर हमें इन प्रश्नोंपर विचार करना है, जिन्हें समझ लेनेपर इस विषमताका कारण भी हमारी समझमें आ सकेगा।

देखिये, 'आकर्षणशक्ति' एक नैसर्गिक नियम या शक्ति है। कोई भी वस्तु इस आकर्षणशक्तिसे पृथ्वीपर खींची जाती है। फल पकनेपर हवाके झोंकेसे यदि टूटा तो वह इस आकर्षणशक्तिसे ही खिंचकर धड़ामसे पृथ्वीपर आ गिरता है। मनुष्य यदि अपनी छतसे लुढ़क जाय तो वह इसी शक्तिके प्रभावसे धरतीपर आ जाता है। लेकिन हम देखते हैं कि भौतिक विज्ञानने इस 'आकर्षणशक्ति' की गतिको समझकर पैराशूट आदि ऐसी चीजें तैयार कर दी हैं, जिनके सहारे मनुष्य आकाशमें बहुत ऊँचाईपर उड़ते हुए वायुयानसे भी सरलतापूर्वक पृथ्वीपर उतर आते हैं। गिरते नहीं।

आप वाष्पशक्तिको लें। आग और पानीके संयोगसे वाष्प बनती है। यह वाष्प यदि अधिक मात्रामें किसी व्यक्तिके शरीरपर लग जाय तो मनुष्य इससे आहत होकर जलकर मर भी सकता है; किंतु इस वाष्पशक्तिके उचित उपयोगसे वैज्ञानिकोंने रेल, कल, कारखाने और पुतलीघर आदि हमारे सामने खड़े कर दिये हैं, जिनकी उपयोगिता सर्वविदित है।

इन दो उदाहरणोंसे हम इस निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि निसर्गके, विश्वके, ईश्वरके नियमोंको न समझने और उनकी गतिके विरुद्ध कार्य करनेसे मनुष्य तकलीफ उठाता है, लेकिन जब वह उन्हीं प्राकृतिक नियमोंकी गतिको समझकर, उनके अनुकूल चलने लगता है तो वह उन होनेवाली तकलीफोंसे ही नहीं बच जाता है वरं वह उन्हीं नियमोंको अपने उपयोगमें उचित ढंगसे लाकर आशातीत सफलता और लाभ उठाता है।

बस, ठीक यही बात इस समता-विषमतामें है, सुख-दुःखमें है, भेद-विभेदमें है। हमारे सारे ऐसे प्रश्नोंका जवाब प्रकृतिके, ईश्वरके, स्रष्टाके इन नियमोंके पालन और उल्लङ्घनमें है। जो आज वैभवशाली एवं सुखी हैं—मान लीजिये उन्होंने पूर्वमें नैसर्गिक नियमोंके अनुसार कार्य किया है और इसके विपरीत जो दुखी हैं, उन्होंने प्रकृतिके, स्रष्टाके नियमोंका उल्लङ्घन किया है, भले ही उन लोगोंने जानकर या अनजानमें उन नियमोंका पालन या उल्लङ्घन किया हो, पर तदनुरूप ही वे सुखी अथवा दुखी हो रहे हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि यह सृष्टिक्रम कुछ नियमोंके अन्तर्गत ही चल रहा है और मनुष्य उन नियमोंको समझकर और उनपर चलकर उनसे फायदा उठा सकता है, सुखी हो सकता है अथवा उन्हें भंग कर दुखी हो सकता है। यह मनुष्यपर ही निर्भर है।

हम भारी भूल करते हैं जब समझते हैं कि भौतिक विज्ञानके द्वारा ही हमने इन नियमोंको समझा है, इसके पूर्व नहीं; किंतु ऐसा नहीं है। भौतिक विज्ञान तो आजका है, परंतु प्रकृतिके नियमोंका ज्ञान आजका नहीं, अपितु यह तो उतना ही पुरातन है जितना कि यह विश्व। इन्हीं प्राकृतिक नियमोंका ज्ञान पूर्वमें हमें धर्मशास्त्रोंसे मिला है। इन्हीं नैसर्गिक नियमोंको हम धर्मशास्त्रकी भाषामें आचार, धर्म या नीति-शास्त्र कहते हैं। चूँकि ये नियम अब पुराने हो गये हैं, अतः उनमें हमारी अश्रद्धा हो गयी है; लेकिन हमारी श्रद्धा एवं अश्रद्धा निसर्गके नियमोंकी गतिको नहीं बदल सकती, उलटे अपनी अश्रद्धाके कारण हम उन नियमोंके विपरीत आचरण करते हैं और फलतः हम इस विषमताग्रस्त अवस्थामें पहुँच गये हैं। अब हमें देखना है कि वह कौन-सा आचार-धर्म, नीतिशास्त्र, अथवा आधुनिक भाषामें यों कहें तो वह कौन-सा प्राकृतिक नियम है, जिसके तोड़नेसे हमारी यानी मनुष्य-जातिकी यह दयनीय विषमतापूर्ण अवस्था हो रही है ? ऐसे नियमोंको जब हम समझ सकेंगे और उनके अनुसार हमारे कर्म और व्यवहार होने लगेंगे तभी हम इन दुःखोंसे अथवा इन विषमताओं या विपरीततासे अपना पीछा छुड़ा सकेंगे, अन्यथा नहीं। (हम यहाँ यह कह देना आवश्यक समझते हैं कि जब-जब हम इस लेखमें नियम या शक्ति शब्दका प्रयोग करते हैं तब-तब वहाँ हमारा मतलब प्राकृतिक नियम तथा धर्मशास्त्र नियम दोनोंसे ही है, क्योंकि हमारे विचारसे ये दोनों नियम एक ही हैं, अलग नहीं। आधुनिक कालमें हम

उन्हीं नियमोंको 'प्राकृतिक नियम' के नामसे पुकारते हैं, जिन्हें हमारे पूर्वज आचारधर्म, नीतिशास्त्र अथवा धर्मशास्त्र आदि नामोंसे सम्बोधित करते थे। दोनोंका मतलब एक ही है, भिन्न नहीं। दोनोंमें सिर्फ शब्द-भेद है।)

वह नियम क्या है, चलिये देखें। ऑक्सीजनके परमाणुओंमें यदि उसके द्विगुण हैड्रोजनके परमाणु मिल जायँ तो वह पानी बन जाता है, अथवा यदि हम पानीको वाष्पके रूपमें परिणत करें तो वह उपर्युक्त कथित ऑक्सीजन और हैड्रोजनके अणुओंमें विभक्त हो जाता है, यह एक अटूट प्राकृतिक नियम है। इसी प्रकार वासना अथवा कामनारूपी ऑक्सीजनमें मनन या विचाररूपी द्विगुण हैड्रोजन मिल जानेपर जो परिणाम निकलता है, वही हमारे ठोस शारीरिक कर्म हैं; जिनकी अन्तिम स्थिति सुख-दुःखरूपी आजकी वैषम्यपूर्ण हमारी अवस्थाएँ हैं। जैसे पानीकी पूर्वस्थिति ऑक्सीजन और हैड्रोजनमें है, ठीक उसी प्रकार आजकी हमारी विषमताग्रस्त अवस्थाकी पूर्वस्थिति हमारी ही वासनाओं तथा विचारोंमें है। प्रत्येक कर्मका या मानवीय क्रियाके परिणामका यदि हम विश्लेषण करें तो इस कथनकी सत्यता हमें स्पष्टतया दीखेगी।

देखिये तो, इसी विचारको हमारे धर्मशास्त्रोंमें कितने सुन्दर शब्दोंमें कहा है—

काममय एवायं पुरुष इति स यथा कामो भवति तत्क्रतुर्भवति, यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते यत्कर्म कुरुते तदभिसंपद्यते। (बृहदारण्यकोपनिषद्)

अर्थात् मनुष्य वासनापूर्ण है, जैसी उसकी वासनाएँ अथवा कामनाएँ होती हैं, तदनुरूप ही उसके विचार होते हैं। जैसे उसके विचार होते हैं उसी प्रकारके वह कर्म करता है। और जैसे उसके कर्म होते हैं तदनुरूप स्थितिको वह प्राप्त होता है। यह हमारे धर्मशास्त्रका कथन है, जो हमारी उपर्युक्त कथित विचारधाराकी पुष्टि करते हैं।

इस प्रकार हमें ज्ञात होता है कि सुखी अथवा दुखी, अच्छी अथवा बुरी—जैसी भी हमारी आजकी स्थिति है, उन सबकी पूर्वस्थिति हमारी वासनाओं, कामनाओं, लालसाओं, भावों और विचारोंमें है। यह स्थिति जिस प्राकृतिक नियम, नीतिशास्त्र-नियम अथवा आचारधर्मके आधारपर होती है, उसे हमारे धर्मशास्त्रमें 'कर्म-नियम' या 'कर्म-विपाक' कहा है।

उपर्युक्त पानीके उदाहरणसे हमें यह भी मालूम होता है कि कारणोंमें ही परिणाम निहित है। जहाँ कारण नहीं वहाँ परिणाम नहीं। जहाँ ऑक्सीजन और हैड्रोजनके परमाणु नहीं, वहाँ पानी नहीं। दुनियाकी जैसी भी विषमतापूर्ण स्थिति आज दिखायी देती है, उसकी हैड्रोजन या ऑक्सीजन-रूपी पूर्वस्थिति होनेसे है। संसार केवल एक कारण-कार्यका सम्मिश्रण है या यों कह सकते हैं कि यह केवल एक लेन-देनका सौदा है। जो जैसा करता है, वह वैसा भरता है। जो जैसा देता है, वह वैसा पाता है। संत तुलसीदासजीने ठीक ही तो कहा है—

करम प्रधान बिस्व करि राखा।
जो जस करइ सो तस फलु चाखा॥

जिस प्रकार किसी भी राष्ट्रका कार्य कुछ नियमों और विधानोंके अन्तर्गत ही होता है, उसी प्रकार यह ईश्वरका राष्ट्र (विश्व) ईश्वरीय विधान यानी प्राकृतिक नियमों, नैसर्गिक विधानोंके अन्तर्गत ही चलता है। निसर्गके ईश्वरीय विधानके ऐसे कई नियमोंमेंसे 'कर्म-नियम' इस 'कर्मभूमि' में बहुत विशेषता रखता है। इसकी पुष्टि संत तुलसीदासजीके उपर्युक्त कथित शब्द स्वयं करते हैं। 'कर्म-नियम' इस 'कर्मप्रधान' विश्वमें यानी इस कर्मभूमिमें प्रधान हैं और उनपर ही हमारी सुख और दुःखकी अवस्थाएँ निर्भर हैं, इस कारण उन नियमोंको अच्छी तरह समझना, उनकी क्रिया, गति और शक्तिको समझ लेना परमावश्यक है। अतः हमने इस महत्त्व-पूर्ण 'कर्म-नियम' पर कुछ विचार अपने पूर्व लेख 'दुःख और उसकी दवा' में प्रकट किये हैं, जो गत वर्षके 'कल्याण'के बारहवें अङ्कमें प्रकाशित हो चुका है। उसी सिलसिलेमें कुछ और विचार हम पाठक महानुभावोंके विचारार्थ यहाँ प्रस्तुत करते हैं। 'कर्मणा गहनो गतिः' इस सूत्रके अनुसार यह विषय बहुत गहन है। अतः थोड़ेमें ही उसकी क्रिया-प्रतिक्रियारूप गतिको हम समझ नहीं सकते; इसी कारण हम इस विषयको पुनः लेकर 'विषमता' की गतिके आधारपर विचार कर रहे हैं। जिस नियम अथवा शक्तिमें बिगाड़नेकी शक्ति होती है, उसी नियममें उसे सुधारनेकी भी शक्ति होती है। यदि इस 'कर्म-नियम' के कारण ही हमारी विषमतापूर्ण स्थिति है तो इस उलझनकी सुलझन भी इसी 'कर्म-नियम' में होनी चाहिये। अतः आइये हम 'कर्म-नियम' के इस रहस्यको समझकर इस विषमतापूर्ण स्थितिका उपाय सोचें।

प्रत्येक वस्तुकी तीन अवस्थाएँ होती हैं—भूत, वर्तमान और भविष्य। इसी प्रकार 'कर्म' की भी तीन अवस्थाएँ धर्मशास्त्रमें कही गयी हैं। वे हैं—सञ्चित, प्रारब्ध और

क्रियमाण'। हमने पूर्वमें, भूतमें अथवा व्यतीतमें जो कुछ भी क्रियाएँ की हैं, कर्म किये हैं, उनकी प्रतिक्रियारूप परिणामका जो खजाना हमने एकत्र किया है, उसे 'सञ्चित' अथवा 'एकत्रित' कर्म कहते हैं। ऐसे सञ्चित अथवा एकत्रित कर्मोंके परिणामरूप कोष या खजानेमेंसे वर्तमान जीवनमें भोगनेके लिये जो कर्मफल कर्म-विपाक या प्रतिक्रियाके रूपमें हमें मिले हैं उसे 'प्रारब्ध' या 'परिपक्व कर्म' कहते हैं। इसी प्रकार इस सञ्चितरूप कर्मकोषमें हम प्रतिदिन जो नया कर्म एकत्रित कर रहे हैं, जोड़ रहे हैं या जोड़नेवाले हैं, करनेवाले हैं, उसे ही 'क्रियमाण' या 'आगामी कर्म' कहते हैं। इस तरह कर्मकी भूत, वर्तमान और भविष्यरूप स्थितिको हम सञ्चित या एकत्रित, प्रारब्ध या परिपक्व और क्रियमाण या आगामी कर्म कहते हैं। कर्मकी यही तीन अवस्थाएँ हैं।

कारणसे कार्य तथा कार्यसे फिर कारण, बीजसे वृक्ष और वृक्षसे फिर बीज—जिस नियमके अन्तर्गत होता है, उसे ही 'कर्म-नियम' कहते हैं। कारणरूप बीजसे कार्यरूप वृक्ष और फिर इससे कारणरूप बीज, यही कर्मकी तीन अवस्थाएँ सञ्चित (बीज), प्रारब्ध (वृक्ष) और क्रियमाण (बीज) हैं। हम सब-के-सब इन्हीं तीन अवस्थाओंमें घूमते रहते हैं। इसे ही दूसरे शब्दोंमें संसार-चक्रका परिभ्रमण कहते हैं। यह परिभ्रमण जिस नैसर्गिक अथवा धार्मिक नियमके कारण होता है, उसे ही कर्म-नियम कहते हैं।

कर्मका भूत ही सञ्चित कहा जाता है, सञ्चित यानी पूर्वमें किये गये अच्छे अथवा बुरे 'कर्म-विपाक' का या क्रिया-प्रतिक्रियारूप अंजामोंका निष्कर्षरूप बीजोंका खजाना। विज्ञानने यह साबित कर दिया है कि संसारमें किसी भी वस्तुका सर्वनाश नहीं होता केवल उसकी स्थितिमात्रमें ही अन्तर होता है। मिट्टी, जिसे अभी कुम्हारने कोई रूप या आकार नहीं दिया है, मिट्टीरूपसे धरतीमें बिखरी पड़ी है। कुम्हार आता है, कुछ मिट्टी लेता है और उसके बर्तन बनाता है, कुछके गमले, कुछकी ईंटें तथा कुछके खिलौने। इस तरह वह मिट्टी बर्तन, गमले, ईंटें तथा खिलौने आदि कई प्रकारके आकार और रूप धारण कर लेती है। कुछ समयतक वह मिट्टी इन अलग-अलग आकारों या रूपोंमें रहती है, समय पाकर ये आकार नष्ट हो जाते हैं, ये वस्तुएँ फिरसे टूट-फूटकर, चूर-चूर होकर फिर मिट्टी-की-मिट्टीमें मिल जाती हैं। बस, यही हालत सारी मिट्टियोंकी है, चाहे वह मिट्टी ठोस कार्यों और क्रियाओंकी हो अथवा वासना, कामना, भाव तथा विचारोंकी हो। अन्तर केवल इतना ही है कि वासना और विचारोंकी मिट्टी साधारण ठोस कर्मों, कार्यों और क्रियाओंकी मिट्टीकी अपेक्षा तरल और सूक्ष्म है।

जिस प्रकार कोई भी बीज मिट्टीसे ही अपनी खूराक और रस खींचकर मिट्टीको वृक्षके रूपमें परिणत कर देता है यानी मिट्टी ही बीज चेतनके प्रभावसे वृक्षका रूप धारण कर लेती है। बस, यही हालत हमारी पिंडदेह यानी ठोस शरीर, वासना-शरीर और मनःशरीररूपी वृक्षोंकी है। यह शरीर बनना ही कर्मकी दूसरी अवस्था यानी प्रारब्ध है। इन तीनों शरीरोंके बीज अपनी-अपनी भूमिसे अपने आसपास चैतन्यरूप जीवात्माके प्रभावसे पिंडशरीर (अन्नमय कोष) वासना-शरीर (प्राणमय कोष) और मनःशरीर (मनोमय कोष) तैयार करते हैं। ये शरीर जन्म लेनेपर बनते हैं और मृत्यु होनेपर ये शरीर अपनी-अपनी मिट्टियोंमें मिल जाते हैं। (यह सब कैसे होता है आदि दूसरे विषय हैं, जिनपर हम फिर कभी विचार कर सकते हैं।) परंतु इस सृजन-संहारमें, इस बनाव-बिगाड़में, इस जन्म-मृत्युमें ही सारे विश्व-विकास, स्थिति और प्रलयकी गुत्थी भरी है, सारे सृष्टिक्रमका रहस्य छिपा है। यह विकास, स्थिति और प्रलय ही कर्मकी तीन अवस्थाएँ हैं। यह सृजन-संहार, जन्म-मरण चाहे वृक्षोंका हो, पशुओंका हो अथवा मनुष्योंका हो, इसमें नैसर्गिक नियम अथवा धर्मशास्त्र-नियमरूप 'कर्म-नियम' काम कर रहा है।

अनेक जन्म और मरणोंमें, अनेक सृजन-संहारोंमें, अनेक रूप-रूपान्तरोंमें जिन अनुभवोंका, शिक्षाओंका, कर्मविपाकका कोष, सुख-दुःखका हिसाब, अच्छी-बुरीरूप हमारी विषमतापूर्ण स्थितियोंका खजाना बीजरूपसे हम एकत्रित कर रहे हैं, यही हमारा कर्मकोष अथवा सञ्चित कर्म है। इस कर्मकोष अथवा सञ्चितमें एकत्रित कर्मबीज केवल प्रारब्ध-रूपी पानी गिरनेका अवकाश ही देख रहे हैं कि वह कब गिरे और वे कब अच्छे-बुरे रूप, सुख-दुःखरूप (विषमतापूर्ण स्थितिवाले) वृक्षका आकार धारण करें। प्रारब्धरूप पानी मिलते ही सञ्चितरूप बीज तुरंत अंकुरित होकर अच्छे अथवा बुरे विषमतारूप वृक्षका आकार धारण कर लेते हैं। प्रारब्ध-रूपी आजके अच्छे अथवा बुरे वृक्ष (परिस्थिति आदि) पूर्व सञ्चितरूप कर्मबीजपर निर्भर है अर्थात् आजकी हमारी स्थिति, हमारा वातावरण, हमारा शरीर आदि जो विषमतापूर्ण प्रारब्ध हमें प्राप्त हुआ है यह सब हमारे पूर्वमें एकत्रित किये गये सञ्चित कर्मरूपी बीजोंपर निर्भर है। कहा भी है—'बोवे पेड़

बबूरके आम कहाँ ते होय' । आजकी हम प्रत्येककी भेद-विभेदपूर्ण सुख-दुःखरूप परिस्थिति, विषमतापूर्ण दशा हमारे स्वयमेव पूर्वकृत कर्मोंका परिणाम है । यही रहस्य इस 'कर्म-नियम'के द्वारा हमारे शास्त्र बताते हैं ।

अब हममेंसे प्रत्येक सोच सकता है कि हम अपने आपको जिस भी परिस्थितिमें पाते हैं, विषमतापूर्ण स्थितिमें देखते हैं, सुखी अथवा दुखी अनुभव करते हैं, यह सब हमारे ही पूर्वसञ्चित कर्मोंका परिणाम नहीं है तो और क्या है ? इस स्थितिके निर्माता हम प्रत्येक स्वयं हैं, अन्य कोई नहीं । आजकी हमारी अच्छी अथवा बुरी देह, धनसम्पन्न अथवा निर्धन अवस्थाको बनानेवाले हम स्वयं हैं, अन्य कोई नहीं ।

इस प्रकार हमें मालूम हुआ कि हमारे सञ्चित कर्मसे प्रारब्धने कुछ अच्छे और कुछ बुरे कर्मविपाकरूप बीज लेकर हमारे वर्तमान वृक्षरूप यह ठोस शरीर, वासना-शरीर और विचार-शरीर बनाये हैं । जिस प्रकार प्रत्येक बीजमें—पूर्व वृक्षके, जिसका कि वह निष्कर्षरूप बीज है—सब गुण निहित हैं । इसी प्रकार हमारे इन तीनों शरीरोंमें हमारे पूर्व शरीरोंके सब गुण मौजूद हैं । ये गुण हम प्रत्येकके पूर्वसञ्चित अच्छे अथवा बुरे कर्मोंपर निर्भर हैं, जो हमारा वर्तमान चरित्र, हमारी बुद्धि और हमारा वातावरण बनाते हैं । न्यूनाधिक मात्रामें प्रत्येक गुण-दोष जो हममें पाये जाते हैं, वे सब-के-सब हमने पूर्वमें जैसे बनाये थे, वैसे ही हैं । चूँकि पूर्वमें प्रत्येक व्यक्तिके कर्म भिन्न थे, प्रयास भिन्न थे, रहन-सहन और गुण-दोष भिन्न थे, इसीलिये तो आजकी हमारी स्थितियाँ, विचार-बुद्धि, शारीरिक गठन और अमीरी-गरीबीकी अवस्थाएँ भिन्न-भिन्न हैं । इन नाना प्रकारकी असमतापूर्ण हाल्तोंके उत्तर हमारे ही पूर्वमें किये गये कर्म हैं ।

इससे यह भी प्रतीत होता है कि अपनी परिस्थितियोंको बिगाड़ना और सुधारना हमपर ही निर्भर है तो स्वभावतः हममेंसे प्रत्येकको अपने वर्तमान कर्मोंको अपने हाथमें लेना होगा । प्रत्येक भाव और विचारको, जो हमारा कलका भविष्य बना रहा है; हमें अपने हाथमें लेना होगा, तभी हम अपनी इन तीनों अवस्थाओं, तीनों शरीरों और अपनी परिस्थितियोंको सुधार सकेंगे, अन्यथा नहीं ।

बीजके उदाहरणको लीजिये, किसी भी अनाजके बीजके भूत अर्थात् सञ्चित, वर्तमान अथवा प्रारब्ध और भविष्य यानी क्रियमाणपर विचार कीजिये । हम देखते हैं कि प्रत्येक बीज जमीनसे अपने स्वभाव-गुणरूपी रसको खींच लेता है । इमली, गन्ना और मिर्च आदिके वृक्ष भले ही एक स्थानपर लगे हों; किंतु उन तीनोंमेंसे प्रत्येकके बीज अपने स्वभाव-गुण खटाई, मिठाई और चरपराहटके रसको पृथ्वीमेंसे खींच लेते हैं । ठीक यही दशा मनुष्यके गुण-दोषादि स्वभावकी भी है । यह रहा सञ्चित और प्रारब्धरूपी कर्मोंका प्रभाव । अब क्रियमाण कर्मके प्रभावपर विचार करें ।

एक ही वृक्षके निकले बीजोंको लीजिये, उसमें उस वृक्षके सब गुण मौजूद हैं, जिसका कि वह बीज है; किंतु एक ही वृक्षके बीजोंको भिन्न-भिन्न प्रकारकी जमीनमें लगाइये तथा खाद-पानी देनेमें अन्तर कीजिये तो आप देखेंगे कि अच्छी उपजाऊ जमीनमें अच्छी खाद और पानी दिया हुआ बीज फलरूपमें सुपुष्ट, सुस्वादु और नीरोग होगा । इसके विपरीत ऊसर जमीनमें बोया हुआ, खाद-पानीरहित बीज सूखा, अस्वादु और रोगी होगा । बस, यही दशा हम मनुष्योंकी है । हम अपने अतीतसे, सञ्चितसे इस बीजकी भाँति कुछ सुस्वादु, अस्वादु, मिठाई-खटाईरूप गुण-अवगुण इस प्रारब्धरूप वर्तमान शरीरों और स्वभाव आदिमें लाये हैं । इन्हीं गुणोंको यदि हम चाहें तो बढ़ा सकते हैं और अवगुणोंको घटा सकते हैं अथवा अवगुणोंको बढ़ा सकते हैं एवं गुणोंको घटा सकते हैं । यह हमारे ही ऊपर, आजके क्रियमाण कर्मपर निर्भर है । हम यदि चाहें तो ऊसर भूमिकी भाँति अपने अवगुणोंकी शक्तिको कम कर सकते हैं और उन्हें बिल्कुल कमजोर बनाकर उनसे त्राण पा सकते हैं और उर्वरा भूमिके बीजकी भाँति अपने सद्गुणोंको बढ़ाकर अपना भविष्य उज्ज्वल और उन्नत बना सकते हैं । यह सब हमारे आगामी कर्मपर निर्भर है । यह महान् शिक्षा हमें इस कर्म-नियमसे मिलती है यानी अपनी विषमतापूर्ण स्थितिसे अपने आपको उबारनेवाले हम स्वयं ही हैं, दूसरा कोई नहीं । यह मार्गदर्शक यह कर्म-नियम ही है ।

यह प्रायः देखा गया है कि हमलोग 'कर्म-नियम' की गतिको समझनेमें भारी भूल करते हैं और अकारण ही कर्तव्य-विमूढ़ होकर मनमारे बैठे रहते हैं तथा दुःख सहते हुए भाग्य और ईश्वरको कोसते रहते हैं; जब कि इसके विपरीत हमारा भविष्यरूप क्रियमाण कर्म हमपर ही निर्भर करता है । हम ही इस क्रियमाणको बिगाड़कर अपने भविष्यको अन्धकार-मय बना सकते हैं या उसे सुधारकर, अन्धेरेमें हों तो प्रकाशमें आ सकते हैं । हमारे धर्मशास्त्र इसी हेतु हमें आदेश देते हैं कि हम स्वयं अपने शत्रु हैं तथा स्वयं ही अपने मित्र हैं, अन्य कोई नहीं; क्योंकि हमारे ही वर्तमान बुरे कर्म हमारे

भविष्यके शत्रु हैं और अच्छे कर्म मित्र। क्या यह हमारे ही हाथकी बात नहीं है कि हम अपने शत्रुओंकी संख्या घटाकर मित्रोंकी संख्या बढ़ावें? यही शिक्षा तो हमें कर्म-नियमसे लेनी है। भगवान् श्रीकृष्णने इसी कारण ऐसे कितने ही शिक्षाप्रद वचन कहे हैं जिनमें यह कर्म-नियम कूट-कूटकर भरा है—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥
बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्॥
(गीता ६। ५-६)

अर्थात् 'अपने द्वारा ही अपना उद्धार करे, अपनेको गिरावे नहीं; यह आप ही अपना वैरी है और आप ही अपना मित्र है। जिसने अपनेको जीत लिया है, वह आप ही अपना मित्र है और जिसके द्वारा अपने आपको नहीं जीता गया है उसका वह आप ही शत्रुके समान सदा बर्ताव करता है।'

इस उपदेशमें क्या निराशाको छोड़कर अपने आपको अपने हाथमें लेकर अपना ही उद्धार करनेका सुन्दर आदर्श नहीं है? क्या यह विषमताको दूर करनेका अत्युत्तम मार्ग नहीं? कर्म-नियमका यही रहस्य है।

हमारे प्रारब्धरूप कर्मकी गति तो उन बाणोंकी भाँति है जो हमारे धनुषकी प्रत्यञ्चासे छूट चुके हैं और वे अब अपने वशके नहीं; परन्तु धनुषपर चढ़ाया हुआ वर्तमान बाण और तरकसमें रक्खे हुए भविष्यके काम आनेवाले बाण तो हमारे हाथमें हैं, जिन्हें हम अपने इच्छानुसार अच्छे या बुरे लक्ष्यपर छोड़ सकते हैं, यह हमारे हाथकी बात है, अन्यकी नहीं। यानी हमारा वर्तमान और भविष्य या आगामी कर्म हमारे ही हाथ है, जो हमारी कलकी परिस्थितिका निर्माता है। अतः हमें अपने क्रियमाण कर्मपर, जिसपर हमारा भविष्य निर्भर है, विशेष रूपसे विचार करना आवश्यक है।

इसी क्रियमाण या आगामी कर्ममें विषमतायुक्त स्थितिसे त्राण पानेकी कुंजी छिपी हुई है। हममेंसे प्रत्येक दुःख भोगनेवाले, प्रत्येक सङ्कटोंमें पड़े हुए, प्रत्येक कर्ममारसे दबोचे हुए व्यथित व्यक्तिके लिये परमावश्यक है कि वह भगवान् श्रीकृष्णके आदेशानुसार अपनेको अपने हाथमें ले और यह सोचे कि हमें यह दुःखपूर्ण संसार क्यों मिला है, जब कि हमारा पड़ोसी सुखोपभोग कर रहा है।

यदि हम इस 'कर्म-नियम' की गतिके आधारपर अपनी-अपनी दुःखद अवस्थाओंका विश्लेषण करें तो हमें भलीभाँति विदित होगा कि अपनी इन सुखमयी अथवा दुःखमयी विषमतापूर्ण परिस्थितियोंके निर्माता हम स्वयं हैं, अन्य कोई नहीं, और यदि हम स्वयं ही इनके निर्माता हैं तो हम ही इनके सुधारक भी हैं। यही कर्मका मर्म है और यह क्रियमाण या आगामी कर्म ही हमारा तारक या उद्धारक है।

क्रियमाण या आगामी कर्म तीन प्रकारका है—एक है शारीरिक (कायिक या वाचिक); दूसरा वासनात्मक और तीसरा मानसिक। शारीरिक कर्म हमारे वातावरण और परिस्थितियोंका निर्माता है, जिसमें हम जन्म लेते हैं। वासनात्मक कर्म हमें इच्छित वस्तुओंको प्राप्त कराता है या हमसे उन्हें छीन लेता है। मानसिक कर्म हमारे चरित्रका निर्माता है। इस प्रकार यह आगामी कर्म तीन प्रकार है, जिसपर अब हमें क्रमशः विचार करना है। इन तीनों प्रकारके कर्मपर ही हमारा भविष्य निर्भर है। हमारे तीनों प्रकारके ये कर्म जैसे होंगे बस, वैसी ही हमारी परिस्थिति निर्मित होगी। विषमताग्रस्त स्थितियोंसे त्राण पानेकी कुंजी या रहस्य बस, इस आगामी कर्ममें ही छिपा है। आइये हम इसे देखें।

शारीरिक अच्छे अथवा बुरे कर्मोंसे हमारी परिस्थिति कैसे बनती है, यह हमें सर्वप्रथम देखना है। प्रश्न होता है कि हम गरीब क्यों हैं? हमें वे सुख-सुविधाएँ सुलभ क्यों नहीं हैं, जो दूसरोंको हैं। इसका क्या कारण है? कर्म-नियम इसका उत्तर देता है 'अपने-अपने कर्म'। इस बातको समझनेके लिये हम एक उदाहरण और लेते हैं।

हम देखते हैं कि प्रकृतिने अपनी सारी निधियाँ सबके लिये समानरूपसे दे रक्खी हैं। अतः स्वभावतः वह चाहती है कि सभी प्राणी उसके नियमोंका अनुसरण करें। प्रकृतिके इस नियमके पालन अथवा उल्लङ्घनने ही आजकी हमारी इन विषमतापूर्ण स्थितियोंका निर्माण किया है। हममेंसे आज जो-जो दुखी हैं, उन्होंने इन प्राकृतिक वस्तुओंको, जिनसे हम आज वञ्चित हैं, भूतमें स्वार्थवश अपने ही लिये बटोर रक्खा होगा और उनका उपभोग औरोंको नहीं करने दिया होगा। इसीलिये तो वे ही (पूर्वमें हमारे ही लिये बटोरी हुई वस्तुएँ) आज प्रकृतिने हमसे छीन ली हैं और वे आज हमें नहीं मिल रही हैं। यही कर्म-विपाक या प्रतिक्रियारूप दुःख हमें मिला है कि वे ही वस्तुएँ हमसे दूर हैं। यह बात हमें नीचेके उदाहरणसे स्पष्ट होगी।

पानी और हवाको लीजिये। इन दोनोंको जितना ही स्वतन्त्रतापूर्वक बहाव मिलेगा उतना ही ये दोनों शुद्ध रहेंगे और यदि इनकी स्वच्छन्द गतिमें जरा भी अवरोध हुआ तो ये दोनों ही अशुद्ध होकर तदनुरूप अपने रोकनेवाले वातावरणको गंदा करेंगे। नदी या कुएँका रुका हुआ पानी और घरमेंकी मुँदी हुई या बंद हवा इसके प्रमाण हैं। हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि समय पाकर ये रुके हुए बंद हवा-पानी सड़ने लगते हैं, परंतु जब ये ही स्वच्छन्दतापूर्वक बहते रहते हैं तो शुद्ध रहते हैं। कुएँका पानी यद्यपि बंद है पर उसका पानी निकलता रहता है, उसका उपभोग होता रहता है, तो वह कुएँमें बंद रहनेपर भी शुद्ध रहता है, परंतु उपयोगमें न लाया जानेवाला कुएँका बंद पानी शुद्ध नहीं रह पाता। बस, ठीक यही दशा हमारे इन गरीब-अमीर मनुष्योंकी है। नैसर्गिक वस्तुएँ चाहे वे जो कुछ भी हों, (संसारमें कोई अनैसर्गिक, अप्राकृतिक वस्तु ही नहीं है। भले ही वह धन-दौलत हो अथवा वह हवा पानी या अन्न हो सब-की-सब नैसर्गिक वस्तुएँ हैं, अनैसर्गिक नहीं) सबके लिये हैं, पर जब कोई स्वार्थपरायण प्राणी इन्हें अपने ही लिये बटोरकर रख लेता है और उनका उपयोग अन्य प्राणियोंके लिये बंद कर देता है तो प्राकृतिक नियमानुसार, कर्मविपाकानुसार, वे ही औरोंके लिये बंद की हुई वस्तुएँ, अवकाश पाकर बंद करनेवाले यानी बटोरनेवालेके लिये भी गंदी बनकर अनुपयोगी और दुर्लभ हो जाती हैं। क्या इसमें सन्देह है ? क्या आपने नहीं देखा है कि जब कोई स्वार्थी मनुष्य अपने कुएँका पानी भरना औरोंके लिये बंद कर देता है तो समय बीतनेपर क्या परिणाम होता है ? उस कुएँके पानीका पूरा उपयोग न होनेसे वह सड़ने लगता है और एक दिन आता है जब उस कुएँका पानी स्वयं उस बंद करनेवाले व्यक्तिके भी उपयोगका नहीं रह जाता यानी समय बीतनेपर बंद करनेवालेके लिये भी वह वस्तु बंद हो जाती है। इसके विपरीत जो मनुष्य अपने कुएँका पानी औरोंको उपयोगमें लाने देता है उसके कुएँका पानी शुद्ध रहता है और औरोंके साथ-साथ कुएँका मालिक स्वयं अन्ततक उसे अपने उपयोगमें लेता रहता है। यह बात स्वयं सिद्ध है और हम सबके अनुभवकी है। इससे तात्पर्य यह निकलता है कि जो वस्तु हम स्वार्थवश दूसरोंके लिये बंद करते हैं वह समय बीतनेपर स्वयं हमारे लिये बंद हो जाती है। यही कर्म-नियमकी महान् गति है, जिसे हम कहते हैं— 'इस हाथ दे, उस हाथ ले।'

अब तनिक सोचिये कि ऐसी समस्त वस्तुएँ जो हमें आज दुष्प्राप्य हैं, हम जिनसे आज वञ्चित हैं, जो कर्म-विपाकने हमसे छीन ली हैं, इसमें दोष किसका है ? क्या यह बात सत्य सिद्ध नहीं है कि हमने यही वस्तुएँ पूर्वमें दूसरोंसे छीन रक्खी होंगी, उसीका तो यह नतीजा है कि वे ही वस्तुएँ आज हमसे छीनी गयी हैं। याद रहे, यह नियम पानी और हवाके लिये जैसा सत्य है, वैसा ही यह प्रत्येक वस्तुके लिये सत्य है, जिसकी अनुपस्थितिमें ग़रीब आज दिन-रात दुखी हो रहा है और धनिक जिसके मिलनेसे सुखी है। जब यह कर्म-शिक्षा हमें इन दुःखोंसे मिल जाती है और इससे जब हमें भान हो जाता है कि हमें ऐसी अवस्था क्यों प्राप्त हुई है तब हम निश्चय ही अपने कर्मोंको अपने हाथमें लेते हैं और हर घड़ी यह ख्याल रखते हैं कि हमसे अब कहीं ऐसा दुःखोत्पादक स्वार्थपूर्ण कार्य न बन जाय जिससे आगे चलकर इस प्रकारका दुःख हमें फिरसे उठाना पड़े। यही महान् शिक्षा अज्ञात रूपसे कर्मनियम अपने-आप सब प्राणियोंको हर समय दे रहा है। अतः प्रत्येक मानवके लिये यह आवश्यक है कि प्रारब्धके द्वारा वह जिन-जिन दुःखोंसे दुखी है। उसमें यथार्थ प्राकृतिक नियमकी गतिको समझकर कि वह दुःख क्या शिक्षा देना चाहता है, उससे तुरंत शिक्षा ग्रहण कर अपना भविष्यकर्म सुधारे, तभी वह उन दुःखोंसे अपना पीछा छुड़ा सकेगा, अन्यथा नहीं। इस प्रकार यह क्रियमाण कर्म हमारे हाथ है, जिससे हम अपनी भावी परिस्थितियाँ सुखमयी बना सकते हैं, जब कि प्रारब्धप्रदत्त दुःखोंसे हम शिक्षा ले सकते हैं कि कौन-सा कर्म करनेयोग्य है और कौन-सा त्याग करनेयोग्य है। वास्तवमें वही प्राणी सुखी है जिसने 'कर्म-नियम' रूपी ईश्वरादेशकी यथार्थताको समझकर तदनुरूप अपना जीवन-यापन प्रारम्भ कर दिया है।

यह कर्म-नियमकी गति जैसे एक मनुष्यके लिये सत्य है, वैसे ही बृहत् रूपसे एकसे अधिक मनुष्योंके लिये यानी किसी भी कुटुम्ब, जाति या राष्ट्र अथवा अनेक राष्ट्र और समस्त विश्वके लिये सत्य है। सृष्टिके नियम व्यष्टि और समष्टि सबके लिये एक ही हैं, अलग-अलग नहीं। जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्तिके अच्छे अथवा बुरे कर्म होते हैं उसी प्रकार किसी जातिविशेष अथवा राष्ट्रविशेषके भी होते हैं। शास्त्र कहते हैं 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' इस शास्त्र-कथन या नैसर्गिक नियमके आधारपर अब हम समष्टिरूप राष्ट्रके कर्मपर थोड़ा विचार करें, क्योंकि प्रत्येक राष्ट्रकी आजकी

विषमतापूर्ण सुखी अथवा दुखी स्थिति ठीक उसी प्रकार है जैसे कि अतीतमें उनके कर्म हुए हैं।

प्रारब्धवशात् जो-जो राष्ट्र आज दुखी हैं और अवनतिको प्राप्त हैं, 'कर्मनियम' हमें बताता है कि भूतमें उन-उन राष्ट्रोंके कार्य स्वार्थपूर्ण हुए होंगे। भले ही ऐसे कार्योंका हवाला इतिहासकारोंकी दृष्टि और जानकारीमें आया हो अथवा नहीं— यदि वह बहुत पूर्वका है तो—परंतु इससे कर्मगति नहीं बदलती। बिना कारणके कोई कार्य नहीं हो सकता। और कारण पहले बनता है, कार्य पीछे। यदि कोई अच्छा अथवा बुरा परिणाम आज है तो उसका बनानेवाला कोई कारण भी पहलेसे अवश्य है, यही अचूक कर्म-नियमकी गति है। किसी भी राष्ट्रका आज दुखी होना—अवनतिके गर्तमें जाना ही सिद्ध करता है कि उसके पूर्वके कर्म ही ऐसे होने चाहिये, इसमें सन्देह नहीं। स्रष्टा महान् नियामक है। वह कर्मनियम-रूप अचूक तराजूसे प्रत्येक मनुष्य और राष्ट्रको ठीक-ठीक तौलकर, मापकर कर्मानुसार बिल्कुल उतना ही उल्टा वापस करता है जितना पूर्वमें उस मनुष्य अथवा राष्ट्रने दिया होगा। इस कथनसे बहुतोंका मतभेद है। आज सहस्रों व्यक्तियों एवं राष्ट्रोंके उदाहरण बतलाते हैं कि जो स्वार्थी और दुराचारी होनेपर भी सुखी हो रहे हैं, ऐशो-आराम कर रहे हैं और दुखी नहीं हैं। इसके विपरीत निःस्वार्थी और सदाचारी पुरुष या राष्ट्र दुखी हो रहे हैं और कष्ट पा रहे हैं। परंतु वे व्यक्ति ऐसा समझनेमें भूल करते हैं, क्योंकि अभी उन्होंने कर्म-नियमकी महान् अचूक गतिको नहीं समझा है। कई कार्य ऐसे होते हैं जिनका फल तात्कालिक होता है और कई कर्म ऐसे हैं जिनका फल देरसे होता है। जैसे कोई भी मनुष्य यदि अधिक मात्रामें जहर खा ले तो वह उसी समय मर जाता है; परंतु वही मनुष्य यदि बहुत कम मात्रामें उसी जहरको लेता जावे तो उसके परिणामरूप मृत्युको वह कुछ दिनों बाद प्राप्त होगा। यह अवधि उस मनुष्यकी जहर लेनेकी मात्रापर निर्भर है। ठीक इसी प्रकार कर्मकी गहराई-पर तात्कालिक परिणामका होना अथवा देरसे उस परिणामका होना निर्भर है। क्रियाकी प्रतिक्रिया अवश्य होगी, जल्दी अथवा देरसे। यदि किसीके कर्मोंका फल आज नहीं मिल रहा है तो ठहरो, वह कल तो मिलेगा ही, परंतु मिले बिना नहीं रहेगा। किसीने ठीक ही तो कहा है—

"Though the mills of God grind slowly
yet they grind exceeding small
Though the stands and waits with
patience with exactness grinds he all."

इस प्रकार इस ईश्वरीय नियममें देर भले ही हो; परंतु अंधेर नहीं है। एक-न-एक दिन कर्मका बदला चुकाना ही पड़ता है, देरसे अथवा जल्दी। यही अचूक कर्म-नियमकी गति है। इसे कोई भी नहीं तोड़ सकता। भले ही वह व्यक्ति हो अथवा राष्ट्र।

राष्ट्रके प्रत्येक स्वार्थी व्यक्ति अथवा राष्ट्रको इस कर्म-नियमकी गतिसे शिक्षा लेकर अपना तथा राष्ट्रका भला चाहना हो तो तदनुसार उन्हें अपने कर्म सुधार लेने चाहिये। बुद्धिमानी इसीमें है कि हम दूसरोंको गड्ढेमें पड़ते देखकर स्वयं चेत जायँ और उस गड्ढेमें गिरनेसे बचें, जिसमें हम दूसरोंको पड़ते देख रहे हैं। आजके प्रत्येक दुखी मनुष्य और राष्ट्रसे हमें शिक्षा लेकर अपने तथा अपने राष्ट्रके हितार्थ ऐसे ही उचित और योग्य क्रियमाण कर्म करने हैं जिससे हमारा व्यक्तिगत अपना और राष्ट्रका—दोनोंका ही कल्याण हो।

आज भारत दुखी है, कंगाल है, गिरा हुआ है, ऐसा क्यों है? प्रत्येक भारतीयके मनमें यह प्रश्न उठता है। अपना राष्ट्र इस अवनतिपर क्यों पहुँचा जिससे हमें सैकड़ों वर्षोंतक दासताकी जंजीरें पहननी पड़ीं, आइये हम इसका कर्म नियमके आधारपर विचार करें। केवल इसीलिये कि हमारा नवराष्ट्र हमारी इस गिरी हुई स्थितिसे उचित शिक्षा लेकर अब तदनुरूप अपनी कृतियाँ सुधारे जिससे कि पुनः ऐसा दुःख हमारे राष्ट्रपर कभी न आवे और उत्तरोत्तर हमारा राष्ट्र सुखी और समृद्धिशाली बने। इसके लिये हमें अपने राष्ट्रके संचित कर्मपर विचार करना होगा, जिसके परिणामस्वरूप प्रारब्धके रूपमें यह आजका दुःख भारतको उठाना पड़ रहा है।

यदि हम भारतके अतीतपर दृष्टि डालें तो क्या देखते हैं कि भारत ही दुनियामें सर्वोपरि समुन्नत राष्ट्र था। यहाँ ही सारी दुनियाका वैभव एकत्रित था। सारे पुराणोंको उठाकर देखिये तो आपको मालूम होगा कि भारतके पूर्व वीरोंने भूतलपर सर्वत्र अपनी विजय-दुन्दुभि बजायी थी। पुराण इस बातके साक्षी हैं। ऐसे एक नहीं अनेक राजाओंने एक ही समय नहीं, अनेक बार भिन्न-भिन्न समयमें राजसूय यज्ञ किये थे। राजसूय यज्ञ केवल विश्वविजेता राजा ही कर सकता है, अन्य नहीं। अतएव जिन्होंने भी राजसूय यज्ञ किये हैं वे सब विश्वविजेता थे, इसकी पुष्टि हमारे पूर्व इतिहास यानी पुराण ही करते हैं। इसी कारण हमारे यहाँ सदैव ज्ञान,

सम्पत्ति एवं वैभवका भण्डार पूरित रहा है। वेद-पुराणादि हमारे पुरातन धर्मग्रन्थ हमारे ज्ञानकी परम्पराके द्योतक हैं। स्वर्णकी लंका, स्वर्ण और रत्नजटित द्वारिका और मथुरा आदि हमारी समृद्धि एवं अपार सम्पत्तिके नमूने हैं। भारतकी ऐसी वैभवमयी स्थिति कुछ ही समय नहीं थी। भारतीय सभ्यता और संस्कृतिके सामने ही, इतिहासको भी पता नहीं और जिसका पता अब भूगर्भवेत्ताओंने कुछ-कुछ लगाया है, ऐसी भूतमें हुई कई सभ्यताएँ और संस्कृतियाँ, बेबीलोनियाँ आदि विकसित हुईं और समृद्धि भोगकर समाप्त भी हो गयी। इतना ही नहीं, उनको समाप्त हुए इतने दिन बीत गये कि इतिहास उन्हें भूल भी गया, परंतु हमारी भारतीय संस्कृति तो अभी आजतक वैसी-की-वैसी ही कायम है। यह क्यों और कैसे ? क्या कारण है कि जब अन्य सभ्यताएँ, संस्कृतियाँ पैदा हुईं, पनपीं तथा विनष्ट भी हो चुकीं और तब भी उनकी समकालीन ही नहीं, बहुत पूर्वकी हमारी भारतीय सभ्यता अभीतक टिकी हुई है ? उत्तर स्पष्ट ही तो है। क्या कारण है कि बहुत पुराने जमानेके बनाये हुए विशाल भव्य मन्दिर और किले आज अभीतक कायम हैं जब कि आधुनिक कालके बने हुए ऐसे कई मन्दिर और किले हमारी आँखोंके सामने देखते-ही-देखते विनष्ट हो जाते हैं। जिन्होंने उन पुरातन, ठोस, सुदृढ़ इमारतकी बनावटको देखा है, उनमें-से कोई भी कहेगा कि हमारे पूर्वज शिल्पकलामें कितने बढ़े हुए थे। उन्होंने पक्की चट्टानोंपर ऐसी पक्की और टिकाऊ इमारतें किस बुद्धिमत्तासे बनायी हैं जो आज सदियोंसे वैसी-की-वैसी खड़ी हैं और जिनकी बनावटपर आजके शिल्पकलावेत्ता दंग रह जाते हैं। बस, ठीक यही हालत हमारी भारतीय सभ्यता या संस्कृतिरूपी विशाल इमारतकी है। यह महान् विशाल भवन पक्की चट्टानरूपी सनातन ज्ञानके आधाररूपी नींवपर बनाया गया है। इसका निर्माण हमारे दिव्यज्ञान-प्राप्त ऋषि-मुनियोंने (शिल्पकारों) नैसर्गिक नियमों अथवा सत्य और पुनीत सनातन धर्मशास्त्रोंके आधारपर किया है। यही कारण है कि हमारी संस्कृति आजतक टिकी हुई है और तबतक टिकी रहेगी जबतक हम अपने दिव्य ज्ञानयुक्त धर्म-शास्त्रोंके अनुसार यानी सृष्टिके नियमोंके अन्तर्गत कार्य करते रहेंगे, इस कथनकी सत्यताका प्रमाण स्वयं हमारी भारतीय संस्कृति ही है। अतः क्या हमारे लिये यह आवश्यक नहीं है कि हमारे राष्ट्रका निर्माण सनातन ज्ञान अथवा मानव-धर्मशास्त्र यानी नीतिधर्म और आचारधर्म जिसमें सृष्टिक्रम-नियम कूट-कूटकर भरा हुआ है, उसपर ही हो। ऐसा ही राष्ट्र, जिसका निर्माण निसर्गके नियमों अथवा ईश्वरीय विधान-पर स्थित होगा, टिकाऊ और वैभवशाली हो सकता है। क्या इसमें संदेह है ? (यहाँ हम यह कह देना आवश्यक समझते हैं कि 'धर्म' शब्दसे लोगोंको घृणा-सी हो गयी है, क्योंकि धर्म*का वास्तविक स्वरूप या मतलब बहुत कम लोगोंको मालूम है। 'धर्म' शब्दका अर्थ मतविशेष नहीं, कोई एक विशिष्ट विचार-प्रणाली नहीं और न किसी एक खास महान् व्यक्तिका कथन ही है। 'धर्म' शब्दसे हमारा तात्पर्य ज्ञानयुक्त नीति-शास्त्र और आचार-धर्म—आधुनिक शब्दोंमें यदि कहा जाय तो नैसर्गिक नियम या सृष्टिक्रम-नियम आदि—से है, न कि किसी मतविशेष, क्रियात्मक और रूढ़िधर्मसे, जिन्होंने सत्यधर्मको वास्तविकतामें सेवारकी नाईं ढक दिया है। उसका असली स्वरूप ही बदल दिया है। सेवाररूपी सम्प्रदाय या रूढ़ियोंको अथवा अन्धविश्वासरूपी शृङ्खलाओंको दूर करिये तभी महान् धर्मरूपी शुद्ध निर्मल जल दीख सकेगा। यही हमारा कहनेका अभिप्राय इस धर्मशास्त्रके शब्दोंसे है।) क्या सृष्टिक्रममें या निसर्गकी क्रियाओंमें हमें कभी शङ्का करने-का अवसर आया है ? नहीं, क्योंकि हम समझते हैं कि सृष्टिके नियम अबाध्य हैं, अटल हैं, अचूक हैं। अतः इन अबाध्य, अटल, अचूक प्राकृतिक नियमों अथवा धार्मिक शब्दोंका प्रयोग करें तो मानव-धर्म, आचार-धर्म, या नीतिशास्त्र धर्मपर, सनातन पुरातन ज्ञानके आधारपर निर्माण किया गया राष्ट्र क्या टिकाऊ नहीं होगा ? क्या इसमें शङ्काकी गुंजाइश रह जाती है ? अपने-अपने हृदयोंकी गहरी तहोंमें पहुँचकर हम प्रत्येक विचार कर सकते हैं और इस कथनकी सत्यता और असत्यताका स्वयं निर्णय कर सकते हैं।

जब हम अपनी सभ्यताकी, संस्कृतिकी इस प्रकार विवेचना करते हैं तो स्वाभाविक ही कोई यह प्रश्न पूछ सकता है कि जब हमारी संस्कृति, हमारा धर्मशास्त्र इस कोटिका है तो हमारे राष्ट्रकी ऐसी दयनीय दशा क्यों हुई ? हम क्यों इतने दुखी हुए, दूसरोंके द्वारा कुचले गये, लूटे गये और हमें सदियोंतक दासताकी जंजीरें पहननी पड़ीं ? कर्म-

* 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः'

धर्मेति धारणे धातुर्महत्त्वे चैवमुच्यते।
आधारणे महत्त्वे वा धर्मः स तु निरुच्यते॥
(मत्स्यपुराण)

'धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयति प्रजाः' (महाभारत)

नियम बतलाता है कि इसका उत्तर साफ है 'इस हाथ दे उस हाथ ले'। हमने दूसरोंकी यह स्थिति की होगी तभी तो हमारी ऐसी स्थिति हुई होगी। धर्मसे पतित होकर यदि हमने दूसरोंको लूटा होगा, तो हम स्वयं लूटे गये, हमने दूसरोंको दास बनाया होगा, तभी तो हम दास बने। पुराणोंको उठाकर देखिये, इसका उत्तर मिल जायगा। जब हमारे ही कर्म नीति-धर्मसे, आचारधर्मसे पतित होकर दूसरोंको हानिप्रद हुए तभी तो हमारी अवनति हुई। कर्मनियम, सृष्टिक्रम-नियम तोड़नेसे ही हमारी यह दशा हुई है। अपने ही कर्मोंसे हम इस दशाको कैसे पहुँचे। आइये हम इसपर विचार करें। (शेष आगे)

विनय-पत्रिकामें 'आत्मनिवेदन'

(लेखक—साहित्यमहोपाध्याय प्रो०—पं० श्रीजनार्दनजी मिश्र 'पंकज' बी० ए०, शास्त्री, काव्यतीर्थ, सा० व्या० न्यायाचार्य, साहित्यरत्न, साहित्यालङ्कार)

'विनय-पत्रिका'में तुलसीदासजीने अपरिमित पाण्डित्य, शब्द-भाण्डार, वाक्य-विन्यास-पटुता, अर्थ-गौरव, उक्ति वैचित्र्य और सबसे बढ़कर अपना दिव्य अन्तःकरण खोलकर रख दिया है।'

महामना प्रातःस्मरणीय गोस्वामी तुलसीदासजीकी विनय-पत्रिकाके सम्बन्धमें उपर्युक्त कथन अतिशयोक्ति नहीं, बल्कि अक्षरशः सत्य है। उसमें २८० पद संगृहीत हुए हैं। कुछ क्लिष्ट, संस्कृतमय और रूपकबद्ध पदोंके अतिरिक्त—जिनकी संख्या उँगलीपर गिनायी जा सकती है, शेष भजन हैं—सुपाठ्य, गेय और ताल-स्वरबद्ध। इन पंक्तियोंके लेखकको देहातोंमें नारदीय संकीर्तन-सम्प्रदायमें मृदङ्ग, करताल, झाँझ, निनादित भक्तोंकी सम्मिलित स्वरलहरीमें एक फूलकी भाँति कई बार बहते रहनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है।

'मैं हरि पतित-पावन सुने।
हम पतित तुम पतितपावन दोउ बानक बने।'

× × × ×

'जाउँ कहाँ तजि चरन तिहारे।
काको नाम पतित-पावन है, केहि जग दीन पियारे।'

× × × ×

अब लौं नसानी, अब न नसैहौं।
पायो नाम चारु चिंतामणि उर-कर ते न खसैहौं।'

× × × ×

'ऐसो को उदार जग माहीं।
बिनु कारन जो द्रवै दीन पै राम सरिस कोउ नाहीं।'
'माधव, मो सम मन्द न कोऊ।
जद्यपि मीन पतंग हीन मति मोहि न पूजत कोऊ।

इत्यादि पदोंमें तुलसीदासजीकी दीनता, विवशता, अहंकारशून्यता सरलातिसरल निरीहता ओतप्रोत है—घुलमिल-सी गयी है। 'जाऊँ कहाँ तजि चरन तिहारे' में कितनी विवशता है—कितनी कातरता है, विज्ञ पाठक स्वयं विचार कर लेंगे। प्रत्येक पदमें आत्मनिवेदन है, आत्म-त्याग है और हैं हृदयके सच्चे सरल, निष्कपट उद्गार। पदावलीमें मौन-व्यथा, मूक-वेदना रह-रहकर मुखर हो उठती है।

'विनय-पत्रिका' तुलसीदासजीकी स्वानुभूतियोंकी बंद मंजूषा है, जिसका ढक्कन राम-दरबारमें माता सीताके हाथों एक ऐसे उपयुक्त अवसरपर धीरे-धीरे खुलता है, जब विगत-दिवसके राज-काजकी झंझटोंसे थके-हारे भगवान् श्रीराघवेन्द्र रामचन्द्र पूर्ण विश्रान्तिके अनन्तर 'सिंहासन'पर विराजमान हैं। उनके मुखपर स्वाभाविक प्रसन्नता है, नेत्र प्रातःसरोजवत् प्रफुल्ल हैं और होठोंपर पतली विद्युत्रेखा-सी सुनहरी मुसकान थिरक रही है। जरा, दरबारी रंग-ढंग और अदब कायदेकी एक झाँकी भी कर लीजिये।

दरबार सुसज्जित है। सर्वसाधारणके लिये खुला है। शान्त शीतल बेला है। मारुतिजी पेशकार हैं। चरितनायक श्रीभरतजीने जोरदार सिफारिश की है। श्रीलखनलालजी प्रस्तावक और पट्टमहिषी श्रीजनकनन्दिनीजी स्वयं अनुमोदन-समर्थन करनेवाली हैं। तह किया हुआ अर्जियोंका एक पुलिन्दा—दूसरे शब्दोंमें गुलदस्ता ही कह लीजिये—श्रीरामचन्द्रके कर-कमलोंमें बड़ी ही शालीनतासे, राज्योचित मर्यादा और नारी-सुलभ शील-संकोचकी रक्षा करती हुई श्रीसीता महारानीजी बढ़ा देती हैं। दरबार निस्तब्ध है—चतुर्दिक् नीरव-निस्पन्द। कविके शब्दोंमें ही उसका एक सजीव शब्द-चित्र देख लीजिये—

'मारुति-मन, रुचि भरत की लखि लखन कही है ।
कलिकालहु नाथ ! नाम सों परतीति-प्रीति एक किंकरकी निबही है ।
सकल सभा सुनि लै उठी, जानी रीति रही है ।
कृपा गरीबनिवाजकी देखत गरीबको साहब बाँह गही है ॥
बिहँसि राम कह्यो, 'सत्य है सुधि मैं हूँ लही है' ।
मुदित माथ नावत, बनी, तुलसी अनाथकी, परी रघुनाथ सही है ॥'

बस, अब क्या था । प्रार्थना स्वीकार कर ली गयी । तुलसीको अभयदान मिला । सम्राट्के अपने हस्ताक्षरपर दरबारी मुहर लग गयी, काम पक्का हो गया ।

इस प्रसङ्गमें एक बात और कह लूँ ।

हाथ छुड़ाये जात हौ निबल जानि कै मोहि ।
हिरदै तें जो जाहुगे मरद कहौंगो तोहि ॥

—जैसी फटकार बतानेवाले सूरकी-सी न तो तुलसी गरीबमें हिम्मत ही थी और न उस तरह अपनी दरखास्तोंका पुलिंदा बगलमें दबाये वह राज-दरबारमें प्रवेश ही पा सकते थे । यहाँ राजदरबारका प्रश्न था । राजोचित मर्यादाका पालन करना था । जहाँ कदम-कदमपर धक्का, नम्रता और विनयसे ही काम निकल सकता है—बाबूगिरीसे नहीं । नम्रता, दीनता, विवशता और कातरता ही जहाँ एकमात्र संबल हो, जहाँ सेव्य-सेवक-भाव हो, साथ ही राजा-प्रजाका पिता-पुत्र-जैसा सम्बन्ध हो—वहाँ नतमस्तक होना ही पड़ता है । यही मूल कारण है कि विनय-पत्रिकामें वाक्-संयम है, अनौद्धत्य है और रीति-नीति बरती गयी है ।

सूरदासजीकी श्रीकृष्णपरक उपासनाका मेरुदण्ड सख्यभाव है । बाल-गोपालके साथ उनकी गाढ़ी छनती है, खूब पटती है । दोस्ती है—वैसी-तैसी नहीं, दाँतकाटी रोटी-सी । लंगोटिया यारी है । माखन-चोरीसे लेकर द्वारका-पलायनतक दोनोंका साथ है । सूरदासजी कन्हैयाकी अभीर-गोष्ठीके एक अन्तरङ्ग सदस्य हैं और सूरका कन्हैया उनकी डाँट-फटकारोंका आदी, व्यङ्ग्य-आक्षेप, कटूक्ति-वक्रोक्तियोंका पुराना अभ्यस्त है । एक कानसे सुन लेना और दूसरेसे बाहर कर देना ही पड़ता है । अन्यथा दोस्तीमें दिन-दोपहर कुश्ती हो जाय । बना-बनाया खेल बिगड़ते कितनी देर ? एक शब्दमें यों कहा जा सकता है कि सूरदासको दरबारतक जानेकी कभी नौबत ही न आयी । गोकुलसे मथुरातक तो प्रतिदिनका आना-जाना है । यों तो डंडा फटफटाता हुआ अन्धा अपनी डफलीपर कोई अपना पीलू या आसावरी राग छेड़ता हुआ द्वारका और प्रभासक्षेत्रतक भी श्रीकृष्णका पिण्ड नहीं छोड़ता है । मान लिया जाय कि सूरदासजीको भी श्रीकृष्णके दरबारमें जाना ही पड़ता तो सुदामा दा' की तरह बड़े भइया बनकर मजेमें अपनी बवाई फटे शतच्छिन्द्र चरणोंकी धूल रुक्मिणीके कर-कमलोंसे धुलवा आते । परंतु तुलसीकी समस्या उनकी अपनी है ।

साथ ही तुलसीकी समस्या सामान्य नहीं । उसका एक-मात्र हल विनय-पत्रिका है । और विनय-पत्रिकाका मूलाधार क्या है ? दीनता-प्रदर्शन और आत्मसमर्पण । जिसकी पृष्ठ-भूमिमें सीता-माताका वरदहस्त है—स्नेह-वात्सल्यकी सान्द्र सुशीतल वटच्छाया है ।

तुलसीकी जगज्जननी सीताविषयक जो विनय है, उसे सुनकर ऐसा कौन पाषाणहृदय है जो द्रवित नहीं हो जाता । उसमें बड़े-से-बड़े वज्र-हृदयको भी द्रवित करनेकी शक्ति है । माताके अञ्चलके नीचे, जहाँ वात्सल्य और करुणा-के एक नहीं—दो-दो उत्स फूट पड़े हैं । रोना-बिलखना पुत्रकी दुर्बलता नहीं, सबलता है । वास्तवमें तुलसीदासजीने ही 'बालानां रोदनं बलम्' वाली कहावतको चरितार्थ कर दिखाया है ।

प्रकृतिकी जड़ताको—भुवनमोहिनी महामायाके मिथ्या किंतु मजबूत बन्धनको छिन्न-भिन्न कर डालनेकी ताकत उसी पुत्रके हाथमें आ सकती है जिसपर त्रिपुरसुन्दरी जगदाधार-भूता महामायाके अभय और वरद उभय हस्त उठे हों । तान्त्रिक साधनाकी दार्शनिक पृष्ठ-भूमिमें जिसकी प्रसाद-प्राप्तिके लिये वामाचार और दक्षिणाचार दो मार्गोंका उल्लेख है । वहाँ दक्षिणाचारसे माताकी असीम दयाका अधिकारी होकर साधक उसकी दुस्तर मायाको पार कर सकता है ।

या देवी सर्वभूतेषु मातृरूपेण संस्थिता ।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ॥

अथवा—

सीय राममय सब जग जानी ।
करौं प्रनाम जोरि जुग पानी ॥

जैसे बीजमन्त्रको तुलसीदासजीने ही चरितार्थ कर दिखाया है । जगज्जननीके कृपा-कटाक्ष बिना जीव पाशबन्धनसे विमुक्त ही क्योंकर हो सकता है । यही कारण है कि तुलसी गरीबने भी माका दामन थाम लिया है और एक निरीह बालककी भाँति फफक-फफककर रो रहा है ।

तुलसीकी जीवन-यात्रामें—जिंदगीके लंबे सफर और

काँटेदार मंजिलमें यही तो एक पाथेय है । बेचारा पथिक करे भी तो क्या । अपना संबल लिये राजदरबारकी ओर बढ़ता जा रहा है । एक बात और । पितासे जो काम जल्दी नहीं बनता या बिगड़ जा सकता है, वही माके द्वारा बन तो जाता ही है, सँभल भी जाता है । तुलसीको भी अपनी स्नेह-ममता-वात्सल्यमयी माताका ही पूर्ण भरोसा है । उनमें आत्म-बल है—दृढ़ विश्वास है । वह आगे बढ़कर माका अञ्चल धरता है—पिताका दुपट्टा पकड़ना तो दूर रहा, छूते भी डरता है । सुनिये, सीताकी अञ्चल-छायामें खड़ा—अकुतोभय और निर्भीक-सा वह क्या कह रहा है—

कबहुँक अंब, अवसर पाइ ।
मेरिऔ सुधि द्याइबी, कछु करुन कथा चलाइ ॥

पूरा गीत पढ़कर देखिये । सिफारिशकी चिट्ठीके लिये कविने कितने निरीह, निर्दोष और निष्कपट शब्द कहे हैं । यह कोरा वाग्विलास नहीं—एक भक्तके हृदयके सच्चे उद्गार हैं । बालचपलता नहीं—विमुख या भूले हुए पिताका ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करनेका प्रयास है । आत्मनिवेदन है । अपने दुःख-दर्द, अपनी आह-कराह और वेदना-व्यथाका ब्यौरा है । वात्सल्यके वरदानकी विश्वासपूर्ण आकाङ्क्षा है ।

श्रीरामचरितमानस तुलसीदासजीका स्वाध्यायपूर्ण 'नाना-पुराणनिगमागमसम्मतम् ।' तथा 'क्वचिदन्यतोऽपि'—जैसे उन्हींके खुले शब्दोंमें रोक-उधारके आधारपर लिखा हुआ एक प्रबन्ध काव्य है । उसमें कविकी काव्य-प्रतिमा, अद्वितीय पाण्डित्य, विस्तृत ज्ञान-विज्ञान और व्यापक दृष्टि है । साथ ही प्रबन्ध काव्य होनेके कारण उसका क्षेत्र भी बहुत विस्तृत है । फिर भी वह उसकी अनुभूतिका पूरा चित्रण नहीं ।

विनय-पत्रिका ही कविकी स्वानुभूतियाँ लेकर राजा रामके दरबारतक पहुँच पायी है । इसका अभिप्राय कदापि यह नहीं कि रामचरितमानस, तुलसी-सतसई, गीतावली, कवितावली और दोहावली आदिमें अरण्यरोदन ही हैं । हाँ, इतना तो अवश्य कहूँगा कि महाकाव्यका थका-हारा कवि अपनी मुक्तरचनामें—विनयपत्रिका-जैसी भक्ति-मंदाकिनीमें गोते लगा-लगाकर जुड़ाता है—पूर्ण विश्राम पाता है । विनय-पत्रिका तुलसीका शान्तिनिकेतन है । उसकी पदावली सोपान-मालिकाकी भाँति भक्तको शीतल शान्तिमयी भक्ति-सरिताकी गहराई तक निर्बाध गतिसे पहुँचा देती है ।

रामचरितमानसका तुलसी एक प्रबन्ध काव्यकार है, महाकवि है, महापण्डित है और है ज्ञानी, तार्किक, दार्शनिक और राजनैतिक; किंतु विनय-पत्रिकाका तुलसी पहले भक्त है—ज्ञानी और दार्शनिक बादमें । उसकी दार्शनिकता देखिये—

माधव ! मोह-फाँस क्यों टूटै ।
बाहिर कोटि उपाय करिय, अभ्यंतर ग्रन्थि न छूटै ॥
घृतपूरन कराह अंतरगत ससि प्रतिबिंब दिखावै ।
ईंधन अनल लगाय कलपसत औटत नास न पावै ॥

—में घटाकाश, महाकाश, जीव-ब्रह्मका बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव, आत्माकी अमरतादि दार्शनिक विषयका प्रतिपादन किया गया है । तारीफ़ तो यह है कि जिस गूढ़ तत्त्वको दार्शनिकोंने लच्छेदार, क्लिष्ट-संश्लिष्ट और समासबहुल शब्द-जालमें उलझाया है, वहाँ तुलसीने सरल, सुबोध और ग्रामीण जनताकी अवधी और व्रजभाषामें सुस्पष्ट कर दिखाया है । आत्मा क्या है ? इस प्रश्नको लेकर नैयायिक, सांख्याचार्य, वैशेषिक, पातञ्जल, मीमांसक, उपनिषत्कार और वेदान्तियों-में गहरा मतभेद आ रहा है । ऐकमत्य सम्भव भी नहीं । वेदान्तियोंमें अविच्छिन्नवाद और प्रतिबिम्बवाद—ये दो ही प्रमुख हो उठे हैं । अवच्छिन्नवादमें अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्यको और प्रतिबिम्बवादमें अन्तःकरण-प्रतिबिम्बित चैतन्यको जीवात्मा स्वीकार कर लिया गया है ।

अवच्छिन्नवादियोंके मतानुसार अनादि, अनन्त अद्वितीय चिन्मात्र सम्पूर्ण जगत्में व्यापक है । अन्तःकरण शरीर-भेदसे भिन्न-भिन्न हैं । अतएव अनेक हैं । अन्तःकरण परिच्छिन्न हैं । अतएव अन्तःकरण चैतन्यके अवच्छेदक हो सकते हैं । सुतराम् अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य ही जीवात्मा है और अन्तःकरणरूप उपाधिके भेदसे अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्यरूप जीवात्मा भिन्न-भिन्न होंगे । जैसे आकाश एक होनेपर भी वह सर्वगत होनेके कारण सभी पदार्थोंके साथ सम्बद्ध है । यही कारण है कि घटाकाश, पटाकाश इत्यादि रूपमें घट-पटादिरूप उपाधिभेदसे आकाश भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं । इसी प्रकार आत्मा एक होनेपर भी नाना रूपमें प्रतीत होती है । सर्वगत आकाशका जिस प्रकार घटादि पदार्थोंके द्वारा अवच्छेद अवश्यम्भावी है । उसी प्रकार चैतन्यका भी अन्तःकरणादि-द्वारा अवच्छेद अपरिहार्य है । ब्रह्मसूत्रकार महर्षि वेदव्यासने अपने 'अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दाशकितवादित्व-मधीयत एके ।' (२।३।४३) इस सूत्रमें अवच्छिन्नवादका समर्थन किया है । अतएव जो अविच्छिन्न है वही तो अंशरूपमें निर्दिष्ट हो सकता है । जीवात्मा परमात्माका अंश है—यह गीतासे भी अनुमोदित है ।

प्रतिबिम्ववाद अवच्छिन्नवादका विरोधी है। प्रतिबिम्ब-वादियोंका कहना है कि अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य जीवात्मा नहीं है। उनका कथन है कि अन्तःकरणप्रतिबिम्बित चैतन्य ही जीवात्मा है। अन्तःकरण या बुद्धि सत्त्व-प्रधान है। अस्वच्छ है। उसमें चैतन्य प्रतिबिम्बित होता है। यह चित् प्रतिबिम्ब ही जीवात्मा है। बुद्धिरूप उपाधि-भेदसे अर्थात् भिन्न-भिन्न बुद्धिमें चित् प्रतिबिम्ब भी भिन्न-भिन्न होता है; अतएव इससे सुख-दुःख-भोगादिका भी अनायास ही समर्थन हो जाता है।

प्रतिबिम्बवाद ब्रह्मसूत्रके अनुकूल नहीं है। फिर भी जीवात्मा परमात्माका अंश है। इससे जिस प्रकार अवच्छिन्न-वाद प्रतिपन्न होता है उसी प्रकार अवच्छेदक उपाधि-भेदसे जीवात्माके भिन्न-भिन्न होनेपर भी आश्रयरूप उपाधि-भेदसे प्रतिबिम्ब भी भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। अतएव अन्तःकरणा-वच्छिन्न चैतन्य जिस प्रकार महाचैतन्यका अंश विवेचित हो सकता है; उसी प्रकार अन्तःकरण-प्रतिबिम्बित चैतन्य भी महा-चैतन्यका अंश विवेचित हो सकता है। अथ च 'अंशो नाना-व्यपदेशात्' व्यासके इस सूत्रके साथ प्रतिबिम्बवादका सामञ्जस्य है—कोई भी विरोध नहीं।

ज्योतिस्वरूप सूर्य या चन्द्र एक है। वह जिस प्रकार भिन्न-भिन्न जलमें अनुगत या अनुप्रविष्ट होकर अनेक हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा चिन्मात्र अथवा एक होनेपर भी उपाधिद्वारा क्षेत्र-देहादिमें अनेक हो जाती है।

केसव ! कहि न जाइ का कहिये।
देखत तव रचना बिचित्र हरि ! समुझि मनहिं मन रहिये॥
सून्य भीतिपर चित्र, रंग नहिं, तनु बिनु लिखा चितेरे।
धोये मिटइ न, मरइ भीति, दुख पाइअ एहि तनु हेरे॥
रबिकर-नीर बसै अति दारुन मकर रूप तेहि माहीं।
बदन-हीन सो ग्रसै चराचर, पान करन जे जाहीं॥
कोउ कह सत्य, झूठ कह कोऊ, जुगल प्रबल कोउ मानै।
तुलसिदास परिहरै तीन भ्रम, सो आपन पहिचानै॥

इसमें दार्शनिक तत्त्वका विश्लेषण और विशदीकरण किया गया है। सृष्टिका कोई स्थूल या भौतिक आधार नहीं है। यहाँ पौराणिक शेष, कच्छप या वाराहकी बात नहीं आयी है और वैदिक एवं वैज्ञानिक आधारको भी लचर एवं नगण्य करार दिया गया है। साथ ही 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' द्वैत-अद्वैत-द्वैताद्वैत और विशिष्टाद्वैतके आचार्योंका हवाला दिया गया है। दार्शनिकोंकी समस्याएँ प्रदर्शित हुई हैं, पर दार्शनिक मीमांसाका प्रयास नहीं किया गया है।

'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः'—गीता आदिके ऊहात्मक विषयकी ओर संकेत है।

इस पदकी दार्शनिक विवेचनासे निबन्धका कलेवर बढ़ तो जायगा ही, साथ ही विषयान्तर हो जायगा। अतएव तुलसीकी दार्शनिकतापर विहङ्गम दृष्टिसे ही काम लिया जा रहा है।

'बिछुड़े रबि-ससि मन-नैननि तें' ......'और
'तहँ रिपु राहु बड़ेरो।'

—में यजुर्वेदोक्त—'चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्योऽजायत' का पाण्डित्यपूर्ण सरल अनुवाद है। साथ ही जहाँ क्रम-भंगदोष है। 'शशि-रवि' ऐसा पाठ्यक्रम हो तो फिर कोई दूषण नहीं। इस प्रकार स्थल-स्थलपर उनका शब्द-भाण्डार, दार्शनिक विद्वत्ता और गम्भीर पाण्डित्य है।

विनय-पत्रिकाकी रचना—रामचरितके बाद तुलसीदास-जीके तीर्थभ्रमणादिके अवसरोंपर चित्रकूट, काशी और अयोध्यादिमें हुई जान पड़ती है। सारे पदोंकी रचना एक जगह होनेकी बात मुझे मान्य नहीं। हाँ, अधिकांश पदोंकी रचना चित्रकूटमें हुई है यह सर्वतोग्राह्य है। एक बात और अनुभूतिप्रधान होनेके कारण विनय-पत्रिकाकी प्रभविष्णुता रामचरितमानससे भी कहीं बढ़-चढ़ गयी है। कतिपय विद्वानों-का तो अनुमान है कि विनय-पत्रिका कई अंशोंमें रामचरित मानससे भी उत्कृष्ट ठहरती है।

विनय-पत्रिकाकी शैली मैथिलकोकिल विद्यापतिकी पदावलीके ढंगकी है। महामना सूर भी अपने सूरसागरकी शैलीके लिये विद्यापतिके ऋणी हैं। उक्त ग्रन्थोंकी तरह विनय-पत्रिका भी मुक्तक (फुटकर) रचनाओंका संग्रह है। दार्शनिक-जैसे गम्भीर और पाण्डित्यपूर्ण विषयोंके प्रतिपादन करनेका ढंग तुलसीका अपना है और यह उसकी खास खूबियाँ हैं।

विनय-पत्रिकाकी पदावली राग-रागिनीयुक्त गेय और लयात्मक है। कुछ क्लिष्ट पदोंके अतिरिक्त सभी गेय हैं। इसे वेणु-काव्य (Lyrics) भी कहा जा सकता है।

रामचरितमानस और विनय-पत्रिका दोनोंकी भाषा संस्कृतगर्भित है। वर्णन-प्रणाली और विषय-प्रतिपादन भिन्न भिन्न। 'प्रिय-प्रवास'की भूमिकामें अपनी सफाई पेश करते हुए श्रीहरिऔधजीने लिखा है—'क्या रामचरितमानस, रामचन्द्रिका और विनय-पत्रिकासे भी प्रिय-प्रवास अधिक संस्कृत गर्भित है? हरिऔधजीका कहना यथार्थ और युक्ति-संगत

है। हाँ, रामचरित-मानसकी तरह विनय-पत्रिका अवधीप्रधान नहीं, व्रजभाषा-क्रियान्विता संस्कृतप्रधान है। जहाँ-तहाँ भोजपुरी मगहीकी टेढ़ी बोलियोंके शब्द भी व्यवहृत हुए हैं। जैसे—

काँट कुड़ाय लपेटन लोटन ठाँवहि ठाँव बझाऊ रे।

श्रीशिवपूजन सहायजीका कहना है कि ये शब्द भोजपुरिया कहारोंकी बोलियाँ हैं। वे इसी प्रकार रुपहला, सुनहला, कमरतोड़ इत्यादि लाक्षणिक शब्दोंके सफेद-पीले कटरेंगनीके फूलोंके लिये और ऊबड़-खावड़ जमीनके लिये व्यवहार किया करते हैं।

रचना-प्रणाली, शब्द-विन्यास-पटुता, शैली-भाषा, भाव-गाम्भीर्य, शब्द-चयन-चातुरी तथा विषयप्रतिपादन सौष्ठवके अतिरिक्त विनय-पत्रिकामें जो सबसे बड़ी विशेषता है—वह है 'रसः शान्तस्तथा परम्' का कलकल प्रवाह। और सच तो यह है कि कविने इसमें अपना अन्तःकरण खोलकर रख दिया है। इस दर्पणमें तुलसीका कवि, उसका कलाकार, उसका दार्शनिक सभी स्वरूप सुस्पष्ट रूपमें प्रतिविम्बित हो उठे हैं। उसके आत्मनिवेदनने विनय-पत्रिकामें प्राण फूँक दिये हैं। यही कारण है कि विनय-पत्रिका उसकी एक सजीव और अमर रचना है। तुलसीका अन्तःकरण इसमें मूर्त और जीवन्त हो उठा है। लाला कन्नोमल एम० ए० के मतानुसार डेविडके बाइविलसम्बन्धी भजनोंकी तरह उसका प्रचार-प्रसार हो रहा है और होता रहेगा।

कामके पत्र

(१)

निराशाकी स्थितिसे निकलनेका अमोघ उपाय

प्रिय भाई, सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। आप जो अपनेको दीन, हीन, सर्वथा निराश और नष्टजीवन मानते हैं, सो ऐसी स्थितिमें इस प्रकारके भाव प्रायः आया करते हैं। इस अवस्थामें मनुष्य यह मान बैठता है कि 'अब इस जीवनमें मेरी स्थितिमें किसी प्रकार भी सुधारकी आशा नहीं है।' वस्तुतः यह स्थिति बड़ी ही दयनीय है। आपने अपने लिये क्या करना चाहिये पूछा, सो जहाँतक मेरी समझ है, इस स्थितिमें मनुष्यको चाहिये कि वह सब प्रकारसे भगवान्के शरण हो जाय। अपनेको सर्वथा निरुपाय मानकर भगवान्के चरणोंमें डाल दे। ऐसी हजारों उलझनोंसे भरी हुई और सर्वथा निराश स्थितिसे निकलनेका एक ही अमोघ उपाय है कि अपनेको भगवान्के भरोसे छोड़ दे और भगवान्की मङ्गलमयी इच्छाको—उनके कल्याणमय विधानको स्वच्छन्दताके साथ अभिव्यक्त होने दे। भगवान्की मङ्गलमयी इच्छामें, उनके मङ्गल विधानमें सभी कुछ सर्वथा सुन्दर, कल्याणमय, प्रेममय और आनन्दमय है। उसमें दीनता, हीनता, निराशा और जीवनकी नष्टताको कोई स्थान ही नहीं है। हम जो आज इतने दीन, दुखी तथा निराश हैं इसका कारण यही है कि हमने भोगासक्तिके कारण भगवान्की मङ्गलमयी व्यवस्थासे अलग अपनी कुछ इच्छाएँ बना ली हैं, और उन्हींकी पूर्तिसे जीवनमें सुख और कल्याणकी सम्भावना मान बैठे हैं। इसीसे बार-बार निराशाका सामना करना पड़ता है। इस निराशा और दुःखकी स्थितिसे पार पानेका उपाय है बस, दृढ़ विश्वासके साथ अपनेको सर्वथा पूर्णरूपसे भगवान्के भरोसेपर छोड़ देना। उनके प्रति पूर्ण समर्पण कर देना। और यह कठिन भी नहीं है। जो सर्वथा असहाय, निराश और आश्रयहीन है, वह दीनबन्धु भगवान्की शरण छोड़कर और कहाँ जायगा। जगत्के लोग तो सफलताकी पूजा करते हैं, ऐसे असफल-जीवनको कौन आश्रय देगा। ऐसे लोगोंके लिये तो एकमात्र अशरण-शरण, करुणावरुणालय भगवान् ही परम आश्रय हैं, जो अकारण ही नित्य प्राणिमात्रके परम सुहृद् हैं। उनका द्वार ऐसे लोगोंके लिये सदा ही खुला है। अतएव भगवान्के प्रति आत्मसमर्पण करके उनकी

कृपाकी प्रतीक्षा करता रहे। भगवान्से यह न माँगे कि 'आप मेरे कष्टोंको, मेरी कठिनाइयोंको दूर कर दें।' यह प्रार्थना भी न करे कि 'मेरी मनचाही चीज या स्थिति मुझे दे दें।' बस, एकमात्र यही चाहे कि 'भगवान्की मङ्गलमयी इच्छा पूर्ण हो, चाहे बाह्यरूपसे वह कितनी ही पीड़ा देनेवाली क्यों न हो।' उनसे यही कहे—

> मेरी चाही करनकी, जो है तुम्हरी चाह।
> तो तुम्हरी चाही करो, यह है मेरी चाह॥
> मेरी चाही हो वही, जो हो तुम्हरी चाह।
> तुम्हरी अनचाही कभी, मत हो मेरी चाह॥
> तुम्हरी चाहीमें प्रभो! है मेरा कल्यान।
> मेरी चाही मत करो, मैं मूरख अज्ञान॥

इस प्रकार भगवान्को उनकी अपनी मनचाही करनेपर छोड़ दीजिये, फिर देखिये, किस आश्चर्यभरी रीतिसे आपके जीवनकी दशा बदलती है और भगवान्की व्यवस्थामें आते ही किस सुन्दरताके साथ सारी व्यवस्था सुसम्पन्न हो जाती है।

इसमें सबसे पहली वस्तु है भगवान्पर विश्वास। भगवान् ही एक ऐसी वस्तु हैं जिनपर विश्वास करनेपर कभी निराश और दुःखी नहीं होना पड़ता तथा जीवनमें सदा सहज ही सुख-शान्ति बनी रहती है। सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ और सदा सच्चे सुहृद् भगवान्पर विश्वास रखनेवाले पुरुष महान्-से-महान् विपत्ति और दुःखमें भी विचलित नहीं होते और बड़ी ही आसानीसे भगवद्विश्वासके प्रखर प्रकाशद्वारा उस दुःखके अन्धकारका नाश कर देते हैं। पर जो लोग भगवान्पर विश्वास न करके भोगोंपर विश्वास करते हैं, उनको तो पद-पदपर निराश ही होना पड़ता है!

अतएव आप भगवान्पर विश्वास कीजिये और अपनेको सचाईके साथ उनके मङ्गलमय विधानपर छोड़कर उनकी मङ्गलमयी इच्छाको प्रकट होनेका सुअवसर दीजिये, फिर आप ही सब ठीक हो जायगा।

(२)

धनसे शान्ति नहीं मिल सकती

प्रिय महोदय, सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। धनकी लालसा और धनके संग्रहमें शान्ति कहाँ? आज लोग धनके पीछे इतने पागल हैं; धनके लिये धर्म, सत्य, प्रेम, शान्ति सबको तिलाञ्जलि देकर येन केन प्रकारेण धनके बटोरनेमें लगे हैं; इसी कारण इतनी चोरबाजारी, घूसखोरी, छीना-झपटी, लूट-खसोट, वैर-विरोध, हिंसा-प्रतिहिंसा और फलतः अशान्ति और दुःखका विस्तार हो रहा है। आज शासक-शासित सभी इस पीड़ासे ग्रस्त हैं। धनका मनोरथ और धन मनुष्यको इतना उन्मत्त बना देता है कि फिर वह आत्मविनाश करनेमें भी नहीं हिचकता। आज जगत्में यही हो रहा है—

> कनक कनक ते सौगुनी मादकता अधिकाय।
> वह खाये बौरात है यह पाये बौराय॥

'कनक (धतूरे) से कनक (स्वर्ण-धन) में सौगुनी अधिक मादकता है, धतूरेको मनुष्य खाता है, तब पागल होता है, पर इसके तो पाते ही पागल हो जाता है।' श्रीमद्भागवतमें अर्थका अनर्थकारी परिणाम बतलाते हुए कहा है—

> अर्थस्य साधने सिद्धे उत्कर्षे रक्षणे व्यये।
> नाशोपभोग आयासस्त्रासश्चिन्ता भ्रमो नृणाम्॥
> स्तेयं हिंसानृतं दम्भः कामः क्रोधः स्मयो मदः।
> भेदो वैरमविश्वासः संस्पर्धा व्यसनानि च॥
> एते पञ्चदशानर्था ह्यर्थमूला मता नृणाम्।
> तस्मादनर्थमर्थाख्यं श्रेयोऽर्थी दूरतस्त्यजेत्॥
> भिद्यन्ते भ्रातरो दाराः पितरः सुहृदस्तथा।
> एकास्निग्धाः काकिणिना सद्यः सर्वेऽरयः कृताः॥
> अर्थेनाल्पीयसा ह्येते संरब्धा दीप्तमन्यवः।
> त्यजन्त्याशु स्पृधो घ्नन्ति सहसोत्सृज्य सौहृदम्॥

× ×

स्वर्गापवर्गयोर्द्वारं प्राप्य लोकमिमं पुमान्।
द्रविणे कोऽनुषज्जेत मर्त्योऽनर्थस्य धामनि॥
(११।२३।१७–२१, २३)

'मनुष्योंको धनके कमानेमें, कमा लेनेपर उसकी रक्षा करने, बढ़ाने तथा खर्च करनेमें तथा उसके नाश तथा उपभोगमें सर्वत्र परिश्रम, भय, चिन्ता और भ्रमका ही सामना करना पड़ता है। चोरी, हिंसा, झूठ, दम्भ, काम, क्रोध, घमंड, मद, भेदबुद्धि, वैर, अविश्वास, स्पर्धा, लम्पटता, जूआ और शराब—ये पंद्रह अनर्थ अर्थ (धन) के कारण ही होते हैं ऐसा माना गया है। इसलिये कल्याण चाहनेवाले पुरुषको उचित है कि वह स्वार्थ तथा परमार्थके विरोधी इस अर्थनामधारी अनर्थको दूरसे ही त्याग दे। भाई-बन्धु, पुत्र-स्त्री, माता-पिता और सगे-सम्बन्धी जो स्नेहके कारण सदा एकमेक बने रहते हैं, कौड़ीके कारण इतने पराये हो जाते हैं कि एक दूसरेके वैरी ही बन जाते हैं। थोड़ेसे धनके लिये ही इन सबका क्षोभ और क्रोध भड़क उठता है, बात-की-बातमें सारा स्नेह-सम्बन्ध भूलकर ये लड़ने-झगड़ने लगते हैं और एक-दूसरेका प्राण लेनेवाले बन जाते हैं—यह मानव-शरीर स्वर्ग और मोक्षका द्वार है, इसको पाकर भी जो लोग इस अनर्थोंके मूल धनके फंदेमें फँस जाता है उसके समान मूर्ख और कौन होगा ?'

आजके बुद्धिमान् (?) मनुष्यने इसी अनर्थकारी धनको जीवनका मुख्य ध्येय मान लिया है और व्यष्टि और समष्टिके लिये इसीको एकमात्र परमसुखका साधन समझकर दिन-रात वह इसीकी चिन्तामें व्यस्त है और भाँति-भाँतिके कुकर्मोंके द्वारा इसके संग्रहमें लगा हुआ है। परम सुखस्वरूप 'भगवान्' और उनकी प्राप्तिके परमसाधन 'त्याग'के पवित्र आसनपर धनकी प्रतिष्ठा करके आज मानव अपने मनुष्यत्वसे गिरकर पशुत्व और पिशाचत्वको अपनाता जा रहा है। यह मनुष्यका बड़ा गहरा पतन है! ऐसी अवस्थामें सुख-शान्ति कैसे मिल सकते हैं ?

वस्तुके रूपमें धनका विरोध नहीं, और न यही है कि मानव-जीवनमें धन अनावश्यक है और उसे कमाना नहीं चाहिये। बात तो यह है कि धन बुरा नहीं है पर उसे रहना चाहिये आज्ञाकारी सेवक बनकर, आराध्य स्वामी बनकर नहीं; उसका उपार्जन और उपयोग होना चाहिये धर्मयुक्त सत्य, न्याय, लोकहित और भगवान्‌की सेवाको नित्य साथ रखकर। इस प्रकार अर्थ और उपभोग (अर्थ-काम) जब 'धर्मसे संयुक्त और सुरक्षित' होते हैं तभी वे मनुष्यको मोक्षकी ओर बढ़ानेवाले होते हैं। आज मनुष्यको धर्मकी कोई परवा नहीं है, उसे तो केवल धन चाहिये, फिर वह चाहे किसी भी उपायसे प्राप्त हो। परंतु याद रखना चाहिये, इससे शान्ति नहीं मिलेगी। सच्ची शान्ति और सुखकी प्राप्तिके लिये तो भगवान्‌के शरण होकर, भगवान्‌का भजन करनेकी आवश्यकता है। असम्भव सम्भव हो जाय; परन्तु भजनके बिना न तो हमारे क्लेशोंका नाश होगा और न शान्ति और सुखके समुद्र भगवान्‌की ही प्राप्ति होगी।

बिनु हरिभजन न सुनहु खगेसा। मिटहिं न जीवन केर कलेसा॥
कमठ पीठ जामहिं बरु बारा। बंध्यासुत बरु काहुहि मारा॥
फूलहिं नभ बरु बहुबिधि फूला। जीव न लह सुख हरि प्रतिकूला॥
अंधकारु बरु रबिहि नसावै। राम बिमुख न जीव सुख पावै॥
हिम ते अनल प्रगट बरु होई। बिमुख राम सुख पाव न कोई॥
बारि मथें घृत होइ बरु सिकता ते बरु तेल।
बिनु हरि भजन न भव तरिअ यह सिद्धांत अपेल॥

और भगवान्‌के भजनके लिये बाहरी पूजन-सामग्रियोंके साथ-ही-साथ भीतरी पुष्पोंका भी चयन करना चाहिये। वे पुष्प ये आठ हैं—

अहिंसा प्रथमं पुष्पं पुष्पमिन्द्रियनिग्रहः।
तृतीयं तु दया पुष्पं क्षमा पुष्पं चतुर्थकम्॥
ध्यानपुष्पं तपः पुष्पं ज्ञानपुष्पं तु सप्तकम्।
सत्यं चैवाष्टमं पुष्पमेभिः तुष्यन्ति देवताः॥
(स्कन्दपुराण रेवाखण्ड ५१)

'अहिंसा प्रथम पुष्प है, (दूसरा) पुष्प इन्द्रियोंका निग्रह है, तीसरा 'दया' पुष्प, चौथा 'क्षमा' पुष्प, (पाँचवाँ) 'ध्यान' पुष्प, (छठा) 'तप' पुष्प, सातवाँ 'ज्ञान' पुष्प और 'सत्य' आठवाँ पुष्प है। इनके द्वारा देवता सन्तुष्ट होते हैं।'

सुख-शान्ति चाहनेवालोंके लिये बस यही साधन है कि वे इन आठों पुष्पोंके द्वारा भगवान्का भजन करके भगवान्की सन्निधि प्राप्त कर लें।

यह स्मरण रखना चाहिये कि लौकिक धनादि विनाशी पदार्थोंके द्वारा आजतक न तो किसीको शान्ति मिली है और न मिल ही सकती है।

(३)

भगवान् सर्वसमर्थ हैं

सादर हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आप विश्वास कीजिये, भगवान् 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थ' हैं। उनके लिये कुछ भी असम्भव नहीं है—

× × ×

रीते भरै, भरै पुनि ढोरै, चाहे तो फेरि भरै॥
कबहूँ तृन डूबै पानीमें, कबहूँ सिला तरै।
बागर ते सागर करि राखै, चहुँदिसि नीर भरै॥
पाहन बीच कमल बिकसावै, जलमें अगिन जरै।
सूर पतित तरि जाय तनिकमें जो प्रभु नेक ढरै॥

भगवान्के भजनसे ऐसी अग्नि उत्पन्न होती है, जो जन्म-जन्मान्तरसे पापोंको क्षणोंमें जला डालती है। भक्तिके प्रयासमें ही सारे प्रायश्चित्त और कर्मफल-भोग एक ही साथ हो जाते हैं। भगवत्कृपासे ऐसी-ऐसी विलक्षण बातें होती हैं जिनकी हमलोग कल्पना भी नहीं कर सकते। जो लोग तर्ककी कसौटीपर कस-कसकर —अपने विषयासक्तिसे दूषित गंदी बुद्धिरूपी तराजूपर तौल-तौलकर भगवान्को परखना चाहते हैं, उन्हें तो निराश ही होना पड़ता है पर जो संतों और भक्तोंके अनुभवको परम सत्य मानकर विश्वासके साथ भगवान्का भजन करने लगते हैं, भक्ति-मणिको अपने हृदयमें बसा लेते हैं, उनके लिये सब कुछ सुलभ और अनुकूल हो जाता है—

खल कामादि निकट नहिं जाहीं। बसइ भगति जाके उर माहीं॥
गरल सुधासम अरि हित होई। तेहि मनि बिनु सुख पाव न कोई॥
ब्यापहिं मानस रोग न भारी। जिन्ह के बस सब जीव दुखारी॥
राम भगति मनि उर बस जाकें। दुख लवलेस न सपनेहुँ ताकें॥

और वास्तवमें उसीमें सारे गुण भी आ जाते हैं—

सोइ सर्बग्य गुनी सोइ ग्याता। सोइ महि मंडित पंडित दाता॥
धर्म परायन सोइ कुल त्राता। राम चरन जा कर मन राता॥
नीति निपुन सोइ परम सयाना। श्रुति सिद्धांत नीक तेहिं जाना॥
सोइ कबि कोबिद सोइ रनधीरा। जो छल छाड़ि भजइ रघुबीरा॥

मैं ऐसे लोगोंको जानता हूँ, जिन्होंने भगवान्पर विश्वास करके असम्भव-से जान पड़नेवाले कार्योंमें विलक्षण सफलता प्राप्त की है और ऐसी महान् विपत्तियोंसे सहज ही तर गये हैं जिनसे तरनेका कोई भी उपाय सामने नहीं रह गया था और ये सब बातें जादूकी भाँति बहुत थोड़े ही समयमें हो गयी हैं।

अवश्य ही इससे मैं यह नहीं कहना चाहता कि भगवान् हमारी अनुचित और विनाशकारी इच्छाको भी पूर्ण कर देंगे। बहुत बार ऐसा भी हुआ है कि इच्छाके विपरीत फल हुआ है; परंतु आगे चलकर यह प्रमाणित हो गया है कि उस विपरीत फलमें ही हमारा कल्याण था। कहीं अनुकूल फल होता तो बहुत बुरा होता। इसलिये सर्वशक्तिमान् भगवान्पर विश्वास करके अपनी समस्या उन्हींको सौंप दीजिये। वे मङ्गलमय मङ्गल ही करेंगे।

आपने जिन उपायोंका उल्लेख किया है, वे तो वस्तुतः दुःख बढ़ानेवाले ही हैं। 'लोग उन उपायोंको काममें लाते हैं और उनमें सफल होते देखे जाते हैं।' आपका यह लिखना बाहरी दृष्टिसे ठीक है; परंतु इसमें रहस्य यह है कि वे यदि इस समय सुख-भोग करते हैं

तो वह उनके पूर्वजन्मार्जित किसी पुण्यकर्मका परिणाम है, वर्तमान पापका फल नहीं । बीज बोते ही फल नहीं लग जाते । समय पूरा होनेपर ही परिणाम प्रकट होता है । उनके वर्तमान पापोंका परिणाम जब प्रकट होगा, तब वे सुखमें कदापि नहीं रहेंगे । दुःख और नरक-यन्त्रणामें ही छटपटाते मिलेंगे । आप निश्चय मानिये, बुरेका फल अच्छा और अच्छेका फल बुरा कभी हो नहीं सकता !

सकाम भक्ति बुरी नहीं है, न पाप ही है । सकाम करते-करते ही निष्कामता प्राप्त होती है । भगवान्‌ने तो अपने सकाम भक्तको भी 'सुकृती' और 'उदार' बतलाया है और अन्तमें उसे भगवान्‌की प्राप्ति होगी यह घोषणा की है (देखिये गीता अ० ७ श्लोक १६, १८, २३); परंतु सकाम भक्तिमें भी अनन्य निष्ठाकी आवश्यकता है। सच्ची सकाम भक्ति न तो मनचाही वस्तु प्राप्त होनेपर छूटती है और न मनचाही न प्राप्त होनेपर भी घटती ही है । वह भक्ति है, कोई मोल-तौलका सौदा नहीं है । किसी पतिव्रता स्त्रीको गहनों-कपड़ोंकी इच्छा है पर है वह एकमात्र पतिसे ही । गहने-कपड़े न मिलनेपर उसकी पति-भक्ति कम नहीं होती, और मिल जानेपर ऐसा भाव नहीं होता कि वस्तु मिल गयी, अब पतिसे क्या काम रहा । असलमें सच्चा सकाम भक्त किसी वस्तु या स्थितिको तो चाहता है; परंतु उसका अपने भगवान्‌में दृढ़ विश्वास होता है और वह उस वस्तुकी अपेक्षा अपने भगवान्‌को अधिक मूल्यवान् और आवश्यक समझता है । जो लोग भगवान्‌में श्रद्धा-भक्ति नहीं रखते और अवसर आनेपर किसी कार्यकी सिद्धिके लिये अनुष्ठान करते-कराते हैं, उनकी श्रद्धा सिद्धि न होनेपर तो घट ही जाती है । सिद्धि होनेपर भी स्थिर नहीं रहती । क्योंकि उन्हें भगवान्‌से काम नहीं है, उनका काम तो अपनी ममताकी वस्तुसे है । भगवान् और उनकी पूजाका अनुष्ठान तो उसका साधनमात्र था । साध्य प्राप्त होनेपर साधनसे क्या प्रयोजन ! इसलिये सकाम-भावसे अनुष्ठान करनेवालोंको भक्त बनना चाहिये, सौदागर नहीं ।

सबसे ऊँची तो निष्काम अहैतुकी प्रेमभक्ति ही है, जो अकारण होती है और जिसके रहे बिना भक्तको चैन नहीं पड़ता । वह एक क्षण भी भगवान्‌को भूल जाता है तो उसे परम व्याकुलता होती है और उसे वह महान्-से-महान् विपत्ति मानता है । इसी भक्तिकी कामना और इसीकी प्राप्तिके लिये साधन-भक्तिका आचरण करना चाहिये ।

(४)

सुधार या संहार

सप्रेम हरिस्मरण । आपका पत्र मिला । आपने हमारे लिये लिखा कि 'आपलोग समाज-सुधारके विरोधी हैं, हजारों वर्षोंकी पुरानी लकीरके फकीर बने हुए उसी गंदगीमें फँसे रहना चाहते हैं । यह आपकी इच्छा है; पर आप दूसरे लोगोंको, जो उस गंदगीसे निकलना चाहते हैं, उसमें क्यों रोक रखना चाहते हैं । इस स्वतन्त्रताके युगमें दकियानूसी विचारोंको लादे रखना मूर्खताके सिवा और क्या है ।'

इसका उत्तर यह है कि सुधारके हम भी पक्षपाती हैं । जहाँ-जहाँ बुराई आयी हो, वहाँ उसे अवश्य हटाना चाहिये । परंतु कोई बात पुरानी है, इसीलिये बुरी है और उसे नष्ट करना ही सुधार है, ऐसा मानना हमारी समझसे एक बड़ी भ्रान्ति है । सबसे बड़ा सुधार है—अपने मानस रोगोंको मिटाना । हम दूसरोंका सुधार करने जाते हैं मनमें गंदे विचारोंको भरकर । तब हम उनको क्या देंगे । हमारे अंदर जो गंदगी भरी है, उसीका वितरण करेंगे । सबसे पहले हमें करना चाहिये—आत्मसुधार । आत्मसुधारका अर्थ है अपने मनमें दैवी सम्पत्तिको भरना और फिर प्रत्यक्ष क्रियाके द्वारा उसका सर्वत्र वितरण करना । याद रखना

चाहिये—भाषणकी अपेक्षा क्रियाकी शक्ति प्रबल होती है और उसकी आवाज भी कहीं ऊँची तथा गहरी होती है। आज लोग सुधारके नामपर उन्मत्त हैं। आपने सुधारोंकी जो सूची दी है, वह तो वस्तुतः संहार है, सुधार नहीं। आपकी सूचीकी कुछ प्रधान बातें ये हैं—'जाति-पाँति मिटा दी जाय; अन्तर्राष्ट्रीय विवाह हों; विवाहके बन्धनोंको ढीला किया जाय, यदि विवाह न होकर स्वेच्छानुकूल स्त्री-पुरुष प्राकृतिक रूपसे मिलें तो और भी श्रेष्ठ; यज्ञोपवीत नहीं पहना जाय; हिंदू-मुसल्मानकी पृथक्ता बतलानेवाले चिह्न जैसे चोटी आदि हैं, वे न रक्खे जायँ; स्त्रीको तलाकका अधिकार हो; पूजा-पाठ बंद कर दिया जाय; तीर्थोंको न माना जाय; शास्त्रोंको न माना जाय; सत्य-अहिंसादिकी अपेक्षा तुरंत फल देनेवाली कपट, घृणा, द्वेष, असत्य तथा हिंसाकी क्रियाओंको आजके पीड़ित समाजमें प्रधानता दी जाय; कम्यूनिस्ट (साम्यवादी) भावोंका खूब प्रचार हो; रूसके आदर्शानुसार भगवान्‌को न माना जाय; क्रान्ति और सङ्घर्षको जीवनका प्रकाश बनाया जाय और पुरोहित तथा धनिक वर्गका समूल उच्छेद हो।'

हम तो इनमेंसे अधिकांश बातोंको प्रत्यक्ष संहार मानते हैं। सुधारके नामपर यदि इस संहारको अपनाया गया तो इससे भारतीय संस्कृतिकी जड़ ही कट जायगी। इस मानेमें हमें लकीरके फकीर तथा गंदगीमें फँसे रहनेवाले बतलाया जाय तो हमें सहर्ष स्वीकार है। हम ऐसे सुधारमें महान् हानि समझते हैं इसलिये दूसरे लोगोंको भी इसके न माननेके लिये कहते हैं और ऐसा करना अपना धर्म समझते हैं।

स्वतन्त्रताका अर्थ उच्छृङ्खलता नहीं है, स्वतन्त्रता तो संयम सिखाती है। जहाँ मनमाना आचरण करनेमें स्वतन्त्रता मानी जाती है, वहाँ तो उच्छृङ्खल यथेच्छाचार है और ऐसी उच्छृङ्खलताका तो नाश ही समाजके लिये कल्याणकारी है!

हम तो प्रत्येक क्रियाको इस कसौटीपर तौलना चाहते हैं कि उसके परिणाममें कर्ताका तथा दूसरोंका अहित है या हित। जिस क्रियाका परिणाम अपना तथा दूसरोंका हित है, वह पुण्य है; और जिसका परिणाम अपना तथा दूसरोंका अहित है उसका नाम पाप है।' पाप-पुण्यकी इस परिभाषाके अनुसार सत्य-अहिंसादिका आचरण और भगवान्‌की सत्ताको मानना आवश्यक होता है। भगवान्‌को माने बिना तथा सत्य-अहिंसादि दैवी गुणोंका आचरण किये बिना ऐसी क्रिया हो ही नहीं सकती, जिसका निश्चित परिणाम दूसरोंके लिये और फलतः अपने लिये कल्याणकारी हो। स्वतन्त्रताके नामपर चलनेवाली उच्छृङ्खलता, सुधारके नामपर होनेवाला संहार और क्रान्तिके नामपर विस्तार पानेवाली भ्रान्ति तो पुण्यके नामपर पापहीको प्रश्रय देती है और उसीके आचरणमें प्रवृत्त करती हैं, जिसका निश्चित फल अकल्याण या दुर्गति है!

जहाँ सुधारकी आवश्यकता हो, वहाँ सुधार अवश्य करना चाहिये; परंतु पुरानी वस्तुमात्रको ही विष समझना तो बहुत बड़ी भूल है। इस भूलसे भगवान् सबको सदा बचाते रहें।

(३)

भगवान्‌की कृपापर विश्वास करके उनके निज-जन बन जाइये

सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। मेरी आपसे बार-बार यही प्रार्थना है कि आप भगवा[illegible]की अहैतुकी कृपापर विश्वास करें। छोटे बालककी भाँति आप अपनेको श्रीभगवान्‌के सामने छोड़ दें। फिर आपको प्रार्थना करनेकी आवश्यकता नहीं होगी। सुन्दर सुधरी हुई भाषामें और अच्छे सुरीले शब्दोंमें पदगान करके उनको रिझानेकी बाहरी क्रिया नहीं करनी पड़ेगी। जैसे स्नेहमयी जननी मलमें सने हुए

बच्चेको, उसके बिना कहे ही, स्वयं अपने हाथोंसे धोती, पोंछती और सजाकर उसे गोदमें बैठा लेती है, वैसे ही भगवान् भी आपकी अपने-आप ही सँभाल करेंगे। अपनेको शिशुकी भाँति भगवान्पर छोड़ देनेवालेके 'योगक्षेम'का स्वयं वहन करनेकी भगवान्ने प्रतिज्ञा की है। 'योगक्षेमं वहाम्यहम्'। माताके हृदयमें अपत्य स्नेह है, एक वात्सल्य है जो उसे अबोध शिशुकी सार-सँभाल करनेको बाध्य करता है। फिर भगवान् तो माताओंकी माता हैं। अनन्त मातृहृदयोंमें अनादि कालसे लेकर अनन्त कालतक जो स्नेहका अखण्ड स्रोत बहता रहता है, कभी सूखता ही नहीं, उसका मूल उद्गमस्थान कहाँ है ? वह है भगवान्में। जगत्में जो स्नेह-सुधा-रसके बिखरे हुए अनन्त कण दिखायी पड़ते हैं, वे सब-के-सब एकत्र कर लिये जायँ तो भी वे भगवान्के अनन्त गम्भीर स्नेह-सुधार्णवकी एक बूँदके बराबर भी नहीं होंगे। अतएव जगत्के जीवोंके प्रति भगवान्की स्वाभाविक कृपा है, सहज सौहार्द है। सब जीव उन्हींके अंश हैं, सदा उन्हींकी गोदमें हैं। पर जैसे कभी-कभी बालक अपने अज्ञानवश स्नेहमयी माताको कठोर समझ लेता है, उसके व्यवहारमें रूक्षता, कटुता, विषमता और उपेक्षा देख पाता है, वैसे ही अज्ञानी जीव भी भगवान्को स्नेहशून्य, कठोर, पक्षपाती और उदासीन मान लेता है एवं कह बैठता है कि भगवान् मेरी एक भी नहीं सुनते। पर वास्तवमें ऐसा नहीं है। भगवान्के समान शीघ्र पुकार सुननेवाला और कोई है ही नहीं। हम किसी भी भाषामें—अथवा बिना ही कुछ बोले मन-ही-मन भगवान्को अपने मनकी बातें कहें, भगवान् तुरंत सुनते हैं और हमारे समझानेमें त्रुटि होनेपर भी उसे यथार्थ समझ लेते हैं तथा उसी क्षण उसका आशापूर्ण उत्तर भी दे देते हैं। वे हमारे पूर्वके पापोंको नहीं देखते, हमारे पापाचरणपर ध्यान नहीं देते। क्योंकि वे पतितपावन हैं। वे तो बस, इतना ही चाहते हैं कि 'मुझपर विश्वास करके जीव मेरा आश्रय ले ले' वैसे ही जैसा छोटा शिशु माताके आश्रित होता है। उनके सामने हृदयको खोलनेकी आवश्यकता है, वाणीकी नहीं। वे हृदयमें रहते हैं उनसे कुछ भी छिपा नहीं है। इसलिये जो लोग अपना हृदय खोलकर उनके सामने अपने पाप-तापोंको रख देते हैं, भगवान् उन्हें अपना लेते हैं और ऐसा बना देते हैं जिसमें फिर उन्हें पाप-ताप छू नहीं सकते। परंतु जो लोग पापोंको छिपाकर भगवान्को धोखा देना चाहते हैं, उनके सामने दम्भ करते हैं, वे अन्तर्यामी भगवान्के सामने कुछ छिपा तो सकते ही नहीं, उनकी पतित-पावनताके प्रभावसे अवश्य वञ्चित रह जाते हैं!

अतएव आप श्रीभगवान्की कृपापर विश्वास करके उनके निज जन बन जाइये। फिर वे आपके दोषोंको नहीं देखेंगे। भगवान् इतने मृदुलस्वभाव हैं कि वे अपने जनोंका दोष नहीं देखकर उन्हें सहज ही अपना लेते हैं—

जन अवगुन प्रभु मान न काऊ।
दीनबंधु अति मृदुल सुभाऊ॥

श्रीगोस्वामीजी महाराजने विनय-पत्रिकामें गाया है—

जौ पै हरि जनके औगुन गहते।
तौ सुरपति कुरुराज बालिसों कत हठि बैर बिसहते॥
जौ जप जाग जोग ब्रत बरजित, केवल प्रेम न चहते।
तौ कत सुर मुनिवर बिहाय ब्रज, गोप-गेह बसि रहते॥
जौ जहँ-तहँ प्रन राखि भगतको, भजन-प्रभाउ न कहते।
तौ कलि कठिन करम-मारग जड़, हम केहि भाँति निबहते॥
जौ सुत हित लिये नाम अजामिलके अघ अमित न दहते।
तौ जम-भट साँसति-हर हम-से बृषभ खोजि-खोजि नहते॥
जो जगबिदित पतित-पावन, अति बाँकुर बिरद न बहते।
तौ बहु कलप कुटिल तुलसी-से सपनेहुँ सुगति न लहते॥

'हे हरि! यदि तुम निज जनोंके दोषोंको मनमें

लाते तो इन्द्र, दुर्योधन और बालिसे हठ करके क्यों शत्रुता मोल लेते ? यदि तुम जप, यज्ञ, योग, व्रत आदि छोड़कर केवल प्रेमपर ही नहीं रीझते तो देवता और श्रेष्ठ मुनियोंको छोड़कर व्रजमें गोपोंके घर किसलिये निवास करते ? यदि तुम जहाँ-तहाँ भक्तोंका प्रण रखकर भजनका प्रभाव न बताते तो हम-सरीखे मूर्खों-का कलियुगके कठिन कर्मपदमें किस प्रकार निबाह होता ? हे करुहारी ! यदि तुमने पुत्रके संकेतसे नारायणका नाम लेनेवाले अजामिलके अनन्त पापोंको भस्म न किया होता, तो फिर यमराजके दूत तो हम-सरीखे बैलोंको खोज-खोजकर हलमें ही जोतते। और यदि तुमने जगत्-प्रसिद्ध पतितपावनताका बाँका विरद न धारण किया होता तो तुलसी-सरीखे कुटिल तो अनेक कल्पोंतक स्वप्नमें भी शुभ गतिको प्राप्त नहीं होते।'

इस प्रकार जब भगवान् आपको अपना लेंगे तब आप सहज ही पाप और संतापसे सर्वथा रहित हो जायँगे। एवं समस्त दिव्य गुण अपने-आप ही अपने-को सार्थक करनेके लिये आपकी शरणमें आ जायँगे—

जाको हरि दृढ़ करि अंग कर्‌यो।
सोइ सुसील, पुनीत, बेदबिद, बिद्या गुननि भर्‌यो॥

(६)

श्रीकृष्णका स्वरूप-तत्त्व

सप्रेम हरिस्मरण। कृपापत्र मिला। आपके प्रश्नोंपर क्रमशः विचार किया जाता है।

१—भगवान् वृन्दावन छोड़कर कहीं नहीं जाते तो सर्वव्यापी कैसे हुए ? यह शङ्का भगवान्‌के स्वरूप और स्वभावको न जाननेके कारण ही उठायी जाती है। भगवान् प्रेमस्वरूप हैं, प्रेमकी निधि हैं, प्रेममें ही प्रकट होते हैं, प्रेमियोंके साथ रहते, उन्हें सुख देने तथा उनके साथ प्रेममयी लीलाएँ करनेमें ही उनको आनन्द मिलता है। भगवान् शङ्करका कथन है—'हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥' भगवान् सर्वत्र व्यापक हैं, कण-कणमें उनकी स्थिति है; किंतु प्रेमसे ही वे प्रकट होते हैं। ब्रह्मरूपसे, निर्गुण-निराकार स्वरूपसे वे सर्वत्र हैं, सर्वदा हैं और सबमें हैं; इसको कौन अस्वीकार कर सकता है ? किंतु सगुण-साकार विग्रह, जो कोटि-कोटि कन्दर्पका दर्प दलन करनेवाला है, सर्वत्र नहीं—प्रेम-धाममें ही प्रकट होता है। प्रेमके भूखे बाँके-बिहारी प्रेमधाम वृन्दावन छोड़कर और कहाँ रह सकते हैं ? जहाँ श्रीकृष्णको तन, मन, प्राण समर्पित करनेवाली प्रेममयी गोपियाँ नहीं हैं, श्रीकृष्णको ही जीवन-सर्वस्व मानकर तदेकप्राण होकर रहनेवाली श्रीराधा नहीं हैं तथा श्यामसुन्दरको सुख पहुँचानेके लिये ही जीवन धारण करनेवाले प्रेमी ग्वाल-बाल नहीं हैं, वहाँ प्रेमपरवश श्रीकृष्ण कैसे रह सकते हैं ? अतः जो श्रीकृष्णको पाना चाहता है, वह वृन्दावनका आश्रय ले, गोपी, ग्वालबाल तथा श्रीराधारानीकी कृपा प्राप्त करे; तभी वह गोपी-वल्लभकी रूपमाधुरीका पान कर सकता है। जिसके हृदयरूपी व्रजमें वृन्दावन, गोप-बाल, गोपी, श्रीराधा तथा श्रीकृष्णकी प्यारी गौएँ हैं, जो इन सबके साथ श्रीकृष्णको अपने हृदयमन्दिरमें बिठाकर उनका चिन्तन करता है, वह श्रीकृष्णको शीघ्रतापूर्वक पा सकता है।

भगवान् सूर्यका प्रकाश तीनों लोकोंमें सर्वत्र व्यापक है; वह प्रकाश सूर्यमण्डलसे आता है; उसका केन्द्र सूर्यमण्डल है, जहाँतक प्रकाश जाता है, वहाँतक सूर्य-मण्डल नहीं जाता; वह उससे छोटा है, तो भी इस पृथ्वीसे बहुत बड़ा है। उस मण्डलमें रहनेवाले अधिदेवतारूप जो भगवान् आदित्य हैं, जिन्हें नारायण अथवा सूर्यनारायण कहते हैं, जिनके परम सुन्दर कमनीय विग्रहमें यथास्थान केयूर, मकर-कुण्डल, किरीट, हार आदि भी शोभा पाते हैं। वे अपने मण्डलसे भी छोटे हैं तथा सदा अपने धाममें ही रहते हैं; परंतु वह प्रकाश

और वह मण्डल सब उन्हींसे हैं। यदि वे न हों तो प्रकाश अथवा मण्डलकी सत्ता ही न रहे। सूर्यके उस अधिदैवरूपकी प्राप्तिके लिये आदित्यलोकमें ही जाना पड़ेगा, वरुणलोकमें नहीं; किंतु वे कारणरूपसे या तेज प्रकाशरूपसे सभी लोकोंमें व्यापक हैं। यही बात श्रीकृष्णके सम्बन्धमें भी है। इनके सर्वत्र व्यापकरूपको 'ब्रह्म' कहा गया है, जिसकी उपमा प्रकाशसे दी गयी है। यह निर्गुण-निराकार रूप है। श्रीकृष्णका जो दूसरा रूप सगुण-निराकार है, वह मण्डलके स्थानपर है; इसी रूपको हम 'परमात्मा' कहते हैं। इसका भी अन्तरात्म-भूत जो स्वरूप है, वही 'भगवान्' कहलाता है। यह भगवान् ही 'श्रीकृष्ण' हैं। ये अपने मण्डलमें, अपने नित्य-धाम वृन्दावनमें ही रहते हैं। जहाँ प्रकट होते हैं, वहाँ वृन्दावनको साथ लेकर ही प्रकट होते हैं। अथवा यों कहिये कि जहाँ ये प्रकट होते हैं वहीं वृन्दावन है। इस प्रकार श्रीकृष्णके ही तीन रूप भगवान्, परमात्मा और ब्रह्म नाम धारण करते हैं। तीनोंकी सत्ता श्रीकृष्णसे ही है। श्रीमद्भागवतमें भी कहा है—

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥

भगवत्स्वरूपके ज्ञाता इस बातको जानते हैं कि भगवान् सर्वव्यापक हैं। जो सर्वव्यापी तत्त्व है, वह कभी कोई भी स्थान छोड़कर कहीं नहीं जाता। वह कहाँ नहीं है, जहाँ जाय? सर्वत्र वही-वह तो है। जिनके पास आँख है, वे सर्वत्र उसीका दर्शन करते हैं, दूसरे लोग नहीं—'चक्षुष्मन्तोऽनुपश्यन्ति नेतरेऽतद्विदो जनाः।' इस दृष्टिसे भी, यह कहना कि भगवान् वृन्दावन छोड़कर कभी कहीं नहीं जाते, सर्वथा सत्य है। इससे उनकी व्यापकता ही सिद्ध होती है। जो सर्वत्र व्यापक नहीं है, वह एक स्थानसे दूसरे स्थानपर गये बिना रह नहीं सकता। श्रीकृष्ण वृन्दावनसे तथा श्रीराम अयोध्यासे अन्यत्र नहीं जाते; इस कथनका यह भी अर्थ है कि वृन्दावनमें 'श्रीकृष्णका ही दर्शन होता है और साकेतधाममें श्रीरामका ही।'

२—गोपियाँ श्रीकृष्णको ही कान्तभावसे भजती थीं, यह ठीक है। फिर उन्होंने सांसारिक पति क्यों किया—यह शङ्का ठीक नहीं। गोपियोंने कभी सांसारिक पति नहीं किया। उनकी दृष्टिमें न संसार था, न सांसारिक पति। वे तो बचपनसे ही श्रीकृष्णको पतिरूपमें पानेके लिये ही आराधना करती थीं—'नन्दगोपसुतं देवि पतिं मे कुरु ते नमः।' जब ब्रह्माजीने ग्वाल-बालोंको चुरा लिया था, उसी वर्ष ग्वाल-बालके रूपमें केवल श्रीकृष्ण गौएँ चराते रहे। उस समय गौ, ग्वाल-बाल, लकुटी, रस्सी, बछड़ा आदि सब कुछ श्रीकृष्ण ही थे। उन्हीं दिनों गोप-कुमारियोंका विवाह श्रीकृष्णके साथ हुआ। साधारण लोग इस रहस्यको नहीं जानते थे, किंतु श्रीकृष्णप्राणा गोपियाँ इस रहस्यसे अनभिज्ञ नहीं थीं। वे ग्वाल-बाल भी वस्तुतः उन्हें अपनी पत्नी नहीं मानते थे।

३—माधुर्य-भावके उपासकको लौकिक विषय-सुख और सुविधाओंसे परम विरक्त होकर ही प्रिया-प्रियतमके चरणोंमें परम अनुरक्त होना चाहिये। उनके विरहमें रोना, उन्हींको आर्तभावसे पुकारना ही उनकी प्राप्तिका सर्वोत्तम उपाय है। अपना जीवन, अपना सर्वस्व उनपर निछावर करके उन्हींका होकर रहना और उन्हींके लिये जीवन धारण करना चाहिये।

४—आपको बचपनमें श्रीराम-मन्त्रकी दीक्षा मिली है, पर आप श्रीनन्दनन्दनके हाथों बिक गये हैं तो इससे कोई हानि नहीं है। श्रीराम और श्रीनन्दनन्दन एक ही हैं। आपकी रुचि श्रीनन्दनन्दनमें है तो उन्हींका भजन करें। श्रीकृष्ण-प्रेमी संतसे दीक्षा लेनेमें भी कोई हर्ज नहीं है।

भगवान्‌के चरणोंमें निश्छल अनुराग होना ही जीवके लिये परम पुरुषार्थ है ।

(७)

भजनसे ही जीवनकी सफलता

भाई साहेब ! संसारका स्वरूप यही है । हमलोग जो इसको सुखस्वरूप मान बैठे हैं, इसीसे इसका असली रूप—जो सुखरहित, दुःखालय और दुःखोत्पत्तिका स्थान है (गीतामें देखिये 'इसको असुखम्, दुःखालयम्' और 'दुःखयोनि' कहा है), जब सामने आ जाता है तब हम घबड़ा उठते हैं । यह सुखस्वरूप था ही कब । वह तो हमारी भ्रान्ति थी । जो लोग संसारको सुखरूप मानकर इसमें सुख खोजते हैं, उनको तो अन्तमें रोना ही पड़ता है ! इसमें जो सुख है वह तो भगवान्‌को लेकर है । इसीसे भगवान्‌ने कहा है—'इस अनित्य और असुख लोकको पाकर (यदि वस्तुतः सुख चाहते हो तो) मुझको भजो' (माम् भजस्व) । आपकी मेरी तो अब एक प्रकारसे जीवन-सन्ध्या ही है । बालकों और तरुणोंको भी अपने जीवनका मुख्य ध्येय भगवान्‌को ही बनाना चाहिये । फिर हमलोग तो उन दोनों अवस्थाओंको पार कर चुके हैं । हमारा तो शेष जीवनका प्रत्येक पल अब श्रीभगवान्‌के चिन्तनमें ही बीतना चाहिये । जगत्‌के सृजन-संहार यों ही चलते रहेंगे । इनमें रमनेसे कोई लाभ नहीं । अब तो उन प्रभुका आश्रय ग्रहण करना चाहिये जो अशरण-शरण हैं और मुझ-सरीखे अधमोंको भी अपने विरदके कारण अपना लेते हैं । समय बीत रहा है । यहाँकी धन-दौलत, यश-कीर्ति, अधिकार-प्रभुत्व, कुछ भी हमारे काम नहीं आयेंगे । यह सब तो यहींके खिलौने हैं । हम अभागे हैं जो इन खिलौनोंमें ही रमते हैं और इन्हींको जीवनका ध्येय बनाये रखते हैं । इस समय आपके मनमें जो कुछ ग्लानि या निर्वेद-सा है, इसे सुअवसर मानिये । संसारसे मन हटाकर भगवान्‌में लगाइये । और कुछ न हो सके तो उनकी कृपापर विश्वास करके उनके नामका जप, स्मरण और कीर्तन आरम्भ कर दीजिये । भगवन्नाममें महान् शक्ति है । वह बहुत शीघ्र पाप-तापका नाश करके भगवान्‌को मिला देता है । वस्तुतः नाम और नामी एक ही हैं । नामका प्रेम हो जानेपर तो संसारमें सर्वत्र श्रीभगवान्‌की ही झाँकी होने लगती है । फिर संसारमें ऊँच-नीचका कोई भेद नहीं रह जाता । हर समय और हर स्थानमें नामप्रेमी भक्त प्रेमपूर्वक भगवान्‌का नाम-गान करता हुआ स्वयं पवित्र होता है और जगत्‌को पवित्र करता है ('भुवनं पुनाति') । श्रीमद्भागवतमें कहा है—पृथ्वीमें जो भगवान्‌के जन्मकी और लीलाओंकी मङ्गलमयी कथाएँ प्रसिद्ध हैं, उनको सुनते रहना चाहिये और उन गुणलीलाओंका स्मरण करानेवाले नामोंका लाज-संकोच छोड़कर गान करते रहना चाहिये । अन्य कहीं भी आसक्ति न रखकर संसारमें विचरना चाहिये । जो इस प्रकार भगवान्‌के दिव्य जन्म-कर्मकी कथाओंको तथा उनके कल्याणमय नामोंको सुनने और गानेका व्रत ले लेता है, उसके हृदयमें अपने परमप्रियतम प्रभुके नाम-कीर्तनसे प्रेमका अङ्कुर उत्पन्न हो जाता है । उसका चित्त द्रवित हो जाता है और लोक-साधारणकी स्थितिसे ऊपर उठकर वह प्रेमकी मादकतामें कभी खिलखिलाकर हँसने लगता है, कभी फूट-फूटकर रोने लगता है । कभी ऊँचे स्वरसे भगवान्‌को पुकारता है तो कभी मधुर स्वरसे उनके गुणोंका गान करने लगता

हैं। और कभी-कभी आनन्दमत्त हो लोक-लाज छोड़कर नाचने लगता है। यह आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, ग्रह-नक्षत्र, प्राणी, दिशाएँ, वृक्ष-लताएँ, नदी, समुद्र—सभी श्रीभगवान्‌के शरीर हैं। इन सब रूपोंमें स्वयं भगवान् ही प्रकट हैं। ऐसा समझकर वह जड-चेतन सभीको अनन्य भगवद्भावसे प्रणाम करता है—

शृण्वन् सुभद्राणि रथाङ्गपाणे-
र्जन्मानि कर्माणि च यानि लोके।
गीतानि नामानि तदर्थकानि
गायन् विलज्जो विचरेदसङ्गः॥
एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या
जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः।
हसत्यथो रोदिति रौति गाय-
त्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः॥
खं वायुमग्निं सलिलं महीं च
ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं
यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः॥
(११।२।३९—४१)

अतएव अब इस ग्लानि और दुःखरूप संसारसे उपराम होकर भगवद्भजनमें ही लग जाइये। इसीमें परम कल्याण है और यहीं मानव-जीवनकी सफलता है।

अनुकम्पानुनय

(लेखक—श्रीरूपनारायणजी चतुर्वेदी 'निधिनेह')

आवतो सरन नाहिं गहतो चरन तेरे,
जो हौं भव-सागर तैं एक बेर तरतो।
तरतो ही नाहिं प्रभु गहते न बाहिं मेरी,
याही भव-सागरमें बूड़ि बूड़ि मरतो॥
मरतो महेश हौं तौ अतिनीच मीचु पाइ,
लोभ काम क्रोधकी ही ज्वालनिमें जरतो।
जरतो औ गरतो सरीर मेरो सारो नाथ,
जौ न पातकीकी कोऊ बाँह कौं पकरतो॥
आपके अधार मझधार मैंने करी पार,
पार ल्याय मझधार ओर कौं न ठेलिए।
पापनके पुंज काहू नारकी कौं तारि नाथ,
पाइए असीस नैक पुन्यहू सकेलिए॥
एहो रघुराज, करुनाकी कोर मोपै करि,
मेरे दीन बैन कान आपुनै मैं मेलिए।
बाँह गहिबेकी महराज लाज लीजै राखि,
मोहि आपुनौ ही जानि एतो कष्ट झेलिए॥

प्राकृतिक चिकित्साके कुछ नये अनुभव

(लेखक—श्रीधर्मचन्दजी सरावगी)

हमारे देशके लिये प्राकृतिक चिकित्सा बड़ी ही अनुकूल प्रणाली है। इसमें कम खर्चसे रोगोंका नाश होता है, और रोग हमेशाके लिये विदा हो जाते हैं। जो मनुष्य प्राकृतिक चिकित्सा-प्रणालीके सिद्धान्तोंको एक बार भी समझ लेता है, वह सदाके लिये स्वस्थ तथा दीर्घजीवी हो जाता है; इन दिनोंमें कुछ ऐसा प्रचार हो गया है कि यहाँ प्राकृतिक चिकित्सा आरम्भ करनेके समय परिचित व्यक्ति और कुछ अपरिचित व्यक्ति भी मुझे याद कर ही लेते हैं और लोगोंका कहना होता है कि अपने अनुभव आप अवश्य लिखा करें। यदि मैं अपने सामने प्राकृतिक चिकित्सामें लाभ उठानेवाले व्यक्तियोंका लिखना शुरू करूँ तो एक पोथा तैयार हो सकता है, परंतु कुछ विशेष घटनाओंका वर्णन लोगोंकी जानकारीके लिये लिखता हूँ—

१. पिछली बार मेरी भानजी, जिसकी उम्र २८ वर्ष है, मेरे लड़केके लीवरका इलाज देखकर टीका-टिप्पणी किया करती थी और उसके ठीक होनेमें देर होनेके कारण काना-फूसी किया करती थी। उसने बच्चेके ठीक हो जानेपर प्रभावित हो अपना इलाज भी करना शुरू कर दिया। उसे गठियाकी शिकायत थी, साथ ही शरीरमें मोटापा आदि व्याधियाँ थीं, पंद्रह दिनोंतक सूखा मालिश, पेटपर गरम ठंडा डूस, वाष्प स्नान, पेटका लपेट, गरम पानीमें पैर डुबाकर बैठना आदि उपचार किये गये जिससे उसे आराम मालूम हुआ, उसने तीन महीनेतक इलाज कराया और वह स्वस्थ हो गयी। अब तो उसे पहली बार गर्भ रहा है।

२. मेरे यहाँका नौकर संयोगवश कपड़े इस्त्री करते समय बिजलीके तारका फ्यूज होनेके कारण काफी जल गया, उसके हाथमें लगभग छः इंच लंबा और चार इंच चौड़ा दाग पड़ गया। वह उसकी जलनकी असह्य वेदनासे घबड़ाकर मेरे पास आया, मैंने उसे सान्त्वना देते हुए और कुछ न लगाकर उसका हाथ पानीके भरे गमलेमें रख दिया और बर्फ मँगाकर उसके पास रख दिया जो कि पानी हाथकी गर्मीसे ज्यों-ज्यों गरम होता जाय उसमें वह बर्फ डाल दे, उसने छोटे-मोटे जलनेपर पानीका प्रयोग देखा था, इसलिये मेरे सो जानेपर भी सारी रात पानीमें हाथ रखखा, दूसरे दिन उपवास कराया गया और हाथ उसी प्रकार पानीमें रहा, सन्ध्या समय उसे जलन कम मालूम दी और शुद्ध मिट्टीको उबालकर ठंडीकर लगभग एक इंच मोटा पलस्तर उसके हाथपर चढ़ा दिया जो हर दूसरे-तीसरे घंटे बदल दिया जाता था और खानेके लिये फलका रस दिया, इस प्रकार उपचार करनेपर तीन-चार दिनोंमें उसका हाथ ठीक हो गया।

३. सहडोलके श्रीनथमल सरावगी अपने दाँतोंका इलाज करानेके लिये कलकत्ता आये; दाँतके विशेषज्ञोंको दिखाया; सैकड़ों रुपये दक्षिणामें चुकानेके बाद उन्हें यह आदेश मिला कि भयङ्कर पाइरिया हो गया है, सारे दाँत निकलवाने पड़ेंगे, जिसमें लगभग दो हजार रुपये लगेंगे और वापस नकली दाँत लगाकर सुचारुरूपसे काम करनेमें लगभग एक साल लग जायगा। धनी आदमी हैं, गाँवोंके डाक्टरोंका विश्वास नहीं होता, कलकत्तेके दाँतके विशेषज्ञोंकी शरण लेनी ही पड़ी। पर इतना लंबा और खर्चीला नुस्खा उनके दिमागमें कम जँचा, साथ ही कुछ दिनों पहले उनके भाईने प्राकृतिक चिकित्सा-द्वारा दमेकी बीमारीसे पिंड छुड़वाया था, इस कारण उन्होंने एक बार प्राकृतिक चिकित्सकोंकी राय ली। उन्होंने कहा कि आपको तीन-चार महीने समय तो जरूर लगेगा, पर बिना दाँत निकलवाये ही आपका पाइरिया भाग जायेगा। इतने लंबे समयतक वे इलाज करना नहीं चाहते थे, परंतु उनकी आँखोंके सामने, उनके एक दूसरे मित्रके दाँत निकलवाते समय टूट जानेके कारण उन्हें महीनों कष्ट पाना पड़ा था, यह दृश्य नाच रहा था, अतः बाध्य होकर उन्होंने प्राकृतिक चिकित्साकी शरण ली। उन्हें पहले पाँच रोज सारे शरीरका मालिश, डूस, पेटका लपेट और वाष्प स्नान (स्टीमबाथ) किया। शरीर साफ होनेपर मुँहमें दो बार तीन-तीन मिनटके लिये गरम ठंडे पानीके कुल्ले और दो बार पाँच-पाँच मिनटके लिये शुद्ध मिट्टीसे दाँतोंका मंजन। बीचमें गरम ठंडा कटिस्नान, ठंडा मालिश और गरम चादरका लपेट तथा पथ्य फलका रस, उबाले हुए सागका रस, मट्ठा और दूध था। इस प्रकार दो महीनेतक इलाज होता रहा। अब उनके सारे दाँत मजबूत हो गये हैं। आशा है वे भी बहुत जल्द ठीक हो जायँगे। हमारे यहाँ अबतक यह हालत है कि थोड़ी-सी बीमारी होते ही हम डाक्टरोंके पास दौड़ते हैं। वहाँ ठीक न होनेपर वैद्यजीके पास जाते हैं और वहाँ भी किसी कारण ठीक नहीं हुए तो होमियोपैथिक इलाज कराते हैं। जब तीनोंसे हार जाते हैं तब प्राकृतिक इलाजकी ओर आते हैं। इसके बजाय यदि छोटी-छोटी बीमारियाँ होते ही प्राकृतिक चिकित्सा करा लें तो मुफ्तका कष्ट ही न भोगना पड़े, दिन-रात घरमें काम आनेवाले कुछ नुस्खे इस प्रकार हैं—

फोड़ा-फुंसीका प्राकृतिक इलाज

फोड़ा उठते ही उसके ऊपर गरम पानीका खूब सेंक देनेके बाद १० मिनटतक खूब ठंडे जलमें तौलिया भिगोकर उस जगहपर तौलियेको उलटते-पलटते रहना चाहिये। इससे फोड़े-फुंसी एवं सभी प्रकारका सूजन कभी भी प्रकट नहीं होता। फोड़ा पक जानेपर उसके ऊपर ५ मिनटतक मृदु सेंक देकर फिर ठंडा कर लेना चाहिये। एक ही समय इस प्रकार तीन बार करना जरूरी है; बाकी समय फोड़ेपर मिट्टीका पुल्टिस दिनमें दो-दो घंटेपर दो बार बदलना चाहिये और रातमें ठंडे पानीमें कपड़ा भिगोकर फोड़ेपर रखना आवश्यक है।

मलावरोध (कब्जियत)का प्राकृतिक इलाज

कटिस्नान (हिप-बाथ) मलावरोधका एक प्रधान इलाज है। एक पानीके गमलेमें नाभितक डुबाकर बैठे हुए तलपेट तथा जाँघोंमें लगातार घर्षण करनेको कटिस्नान (हिप-बाथ) कहते हैं, पहले-पहल गुनगुने पानीसे दो-एक मिनटतक हिप-बाथ लेकर फिर उससे ठंडे पानीमें आधा घंटातक लेकर क्रमशः अधिकतर ठंडे पानीमें आध घंटेतक हिप-बाथ लिया जा सकता है। हिप-बाथ सदैव बिना भोजन किये खाली पेट रहनेपर लेना आवश्यक है। बाथ लेनेके पहले शरीरको गरम रखना चाहिये और बाथ लेनेके बाद शरीरको गरम कपड़ेसे ढक लेना चाहिये। शरीरको गरम करनेके लिये मर्दन, व्यायाम या धूप-सेवन करना पड़ता है। इस इलाजके साथ प्रतिदिन बेल, अमरूद, खजूर, सेब, किसमिस आदि हर प्रकारका फल यथेष्ट मात्रामें खाना उचित है।

ज्वरका प्राकृतिक इलाज

बुखार आते ही गरम पानीका एक डूस लेना जरूरी है, इसके बाद दिनमें तीन बार ठंडे पानीसे सिर अच्छी तरह धोकर भीगी हुई तौलियासे बंद कमरेमें शरीर पोंछना चाहिये। तदनन्तर सूखे गमछेसे बदन पोंछकर चद्दर-कम्बल मिला ओढ़ा देना चाहिये। कम्बल ओढ़ना अच्छा न लगे तो कुछ देर बाद उसे उतार दे सकते हैं। शरीरमें जलन रहनेपर दिनमें दो बार पेटके ऊपर गीली मिट्टीका आधा इंच मोटा पुल्टिस रखना लाभदायक होता है। इसके साथ ही प्रतिदिन कागजी नीबूके रसके साथ कम-से-कम ६ गिलास जल पीना चाहिये, बुखारके पहले दिन ऊपर लिखे ढंगसे जल पीते हुए उपवास करना ठीक है। इसके बाद मिश्रीके साथ साबूवाली आरारोट और नारंगी या अन्य किसी खट्टे फलका रस पथ्यके रूपमें लेना चाहिये। इस प्रकारके इलाजसे थोड़े ही समयमें ९० प्रतिशत रोगियोंको आश्चर्यजनक आरोग्य लाभ होता है।

अतिसार (डायरिया)का प्राकृतिक इलाज

पेट गरम होकर पतला दस्त आरम्भ होनेपर पेटके ऊपर आधा इंच मोटी गीली मिट्टीकी पुल्टिसका प्रयोग करना चाहिये और दो-दो घंटेके अन्तरसे उसे बदलते रहना जरूरी है, इसके साथ दिनमें दो बार पेटके ऊपर गरम सेंक देना लाभदायक है। इससे थोड़े ही समयमें अतिसार अच्छा होता है। इस रोगमें पहले खाली पानी पीकर रहना चाहिये, इसके बाद मट्ठा, केलेका पानी आदि लिया जा सकता है।

दाँत-दर्दका प्राकृतिक इलाज

दाँतमें दर्द आरम्भ होते ही सबसे पहले सिर धोकर सिरपर भीगा हुआ गमछा रख दो मिनटतक सहनेलायक गरम जलसे कुल्ला करना चाहिये। इसी प्रकार उसी तरह तीन बार करना जरूरी है। उपर्युक्त क्रियाके लिये सबेरे तथा शामका समय अच्छा है। नये दर्दमें ऐसा करनेसे दर्द शीघ्र ही कम हो जाता है। जबतक दर्द न मिटे, गरम और ठंडे जलके कुल्ले करने चाहिये। इस प्रकार हर हालतमें एक-दो दिनमें दर्द मिट जाता है। दाँतमें दर्द होनेपर शुद्ध मिट्टीका मञ्जन करना उचित है और पेट साफ रखना आवश्यक है। सभी रोगोंमें खूब जल पीना चाहिये।

मेरे हिय हुलसैं

सोहैं छबि स्याम अभिराम सुख सोभाधाम,
लाजैं लखि कोटि काम रूप देखि तरसैं।
पहिनें पट पीत सुपुनीत उपवीत काँछे,
बाँधे कटि तून तीर तेज अंग सरसैं॥
नेह भरे नैननसों बिलोकि जनसीदन त्यों,
बोलैं मृदु मीठे बैन मानों सुधा बरसैं।
लखनललाके साथ बानधनु लीन्हें हाथ,
दाहिने सियाके, नाथ मेरे हिय हुलसैं॥

—जनार्दन झा 'जनसीदन'

ग्राहक महोदयोंसे क्षमा-प्रार्थना और अनुरोध

(१) 'कल्याण' का 'उपनिषद्-अङ्क' प्रायः समाप्त हो गया। बहुत-से पुराने ग्राहकोंको भी वी० पी० से अङ्क नहीं भेजे जा सके और इस समय कई दिनोंसे लगातार नये ग्राहक बननेके लिये जो ढेर-के-ढेर पत्र आ रहे हैं, उनको बड़े खेदके साथ अस्वीकार किया जा रहा है और मनीआर्डर-से भेजे हुए रुपये लौटाये जा रहे हैं! 'कल्याण' के प्रेमी सज्जनोंको इस प्रकार हानि और निराशाके पात्र बनानेमें हमें बड़ा क्लेश है! कई पत्र ऐसे विनय-आग्रह-भरे और कई ऐसे रोषपूर्ण आते हैं कि हमें उनको 'नाहीं'में उत्तर लिखते बड़ा ही संकोच होता है। पर कागज तथा मशीनोंकी कमीके कारण हम विवश हैं और इसके लिये अपने समस्त कल्याणप्रेमी भाई-बहनोंसे हाथ जोड़कर क्षमा चाहते हैं।

यद्यपि यह सत्य है कि 'कल्याण'की ग्राहक-संख्या एक लाखसे कई हजार ऊपर होनेपर भी इसके पढ़नेवालोंकी संख्या पाँच लाखसे कम नहीं है। तथापि हम अपने ग्राहक महानुभावोंसे प्रार्थना करते हैं, वे 'कल्याण'को उदारतापूर्वक, जो भाई-बहन उसे पढ़ना चाहते हैं, उन सबको पढ़नेको दे दें। यदि प्रत्येक ग्राहक २०-२० प्रेमियोंको पढ़ा देंगे तो बीस लाख ग्राहकोंका काम हो जायगा। जबतक हम अधिक ग्राहक बनानेमें असमर्थ हैं तबतक हमारे ग्राहक महोदय कृपापूर्वक इस रूपमें हमारी, 'कल्याण'की और 'कल्याण'के प्रेमी पाठकोंकी सहायता करें।

(२) 'कल्याण'के अबतकके मासिक अङ्कोंके प्रकाशनमें देर होनेसे ग्राहकोंको बड़ी असुविधा रही। इसके लिये हम लज्जित हैं। मईतकके अङ्क पहले जा चुके हैं। हम ऐसा प्रयत्न कर रहे हैं कि जूनका यह अङ्क इसी महीनेमें सभी ग्राहकोंको भेज दें। आगेसे किसी भी महीनेका अङ्क यदि उस महीनेके अन्ततक न मिले तो पोस्ट-आफिसमें पता लगाकर हमें सूचित करें।

(३) जिन ग्राहकोंके रुपये हमको मिल गये हैं उन सबको प्रायः रजिस्ट्रीसे अङ्क भेजे जा चुके हैं अतः जिन महानुभावोंको उपनिषद्-अङ्क अभीतक न मिले हों वे हमें सूचना दें।

(४) मईके अन्तिम सप्ताहसे हम 'उपनिषद्-अङ्क'के मनीआर्डर लौटा रहे हैं। अतः यदि किसी सज्जनको पोस्ट-आफिससे वापिस रुपया नहीं मिला हो तो जाँच-पड़तालकर शीघ्र ही लेनेकी कृपा करें।

रजि० सं० ए० १७५

हिंदू-कोडबिलपर सम्मतियाँ

(श्रीकरपात्रीजी महाराज)

'आजकलकी दृष्टिमें तीन बातोंसे किसी सिद्धान्तका निर्णय हो सकता है। पहली बात 'शास्त्रसम्मत' हो, दूसरी 'तर्कसम्मत' हो और तीसरी 'लोकसम्मत' हो। परंतु वर्तमान केन्द्रीय धारासभामें प्रस्तावित हिंदू-कोडबिल तो किन्हीं भी दृष्टियोंसे सम्मत नहीं है। यह कोडबिल वेदादि सत्-शास्त्रोंके सर्वथा विरुद्ध है। 'तर्कसम्मत' और 'लोकसम्मत' भी नहीं है।............'

(श्रीअलगूराय शास्त्री एम० एल० ए०)

सदस्य-भारतीय विधान सभा

'प्रस्तावित हिंदू-कोडबिलसे क्या करने जा रहे हैं? हिंदू-धर्म क्या है, उसकी आधारशिला क्या है और उसके मूलभूत सिद्धान्त क्या हैं? यह उसके धर्माचार्योंको ही बतानेके लिये छोड़ दिया जाय। समाज-सुधारके मिथ्या आवेशमें आकर हिंदूधर्मके मूलभूत सिद्धान्तोंको हटाकर उसके स्थानमें कपोलकल्पित सिद्धान्तोंका प्रवेश करना ऐसा ही उदाहरण होगा जैसे 'विनायकं प्रकुर्वाणो रचयामास वानरम्' × × × वर्तमान धारासभाका यह नियम बनानेका कार्य वैसा ही है जैसे हम अपनी अनुपस्थितिमें अपने घरपर किसी व्यक्तिको वहाँ आनेवालोंको जलपानके प्रबन्धके लिये भेजें और वह वहाँ जाकर हमारी सब सम्पत्ति ही बेच डाले।'